श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

गोस्वामीश्रीहरिकृष्णशास्त्रिविरचित

श्रीआचार्यविजय

हिन्दी अनुवाद
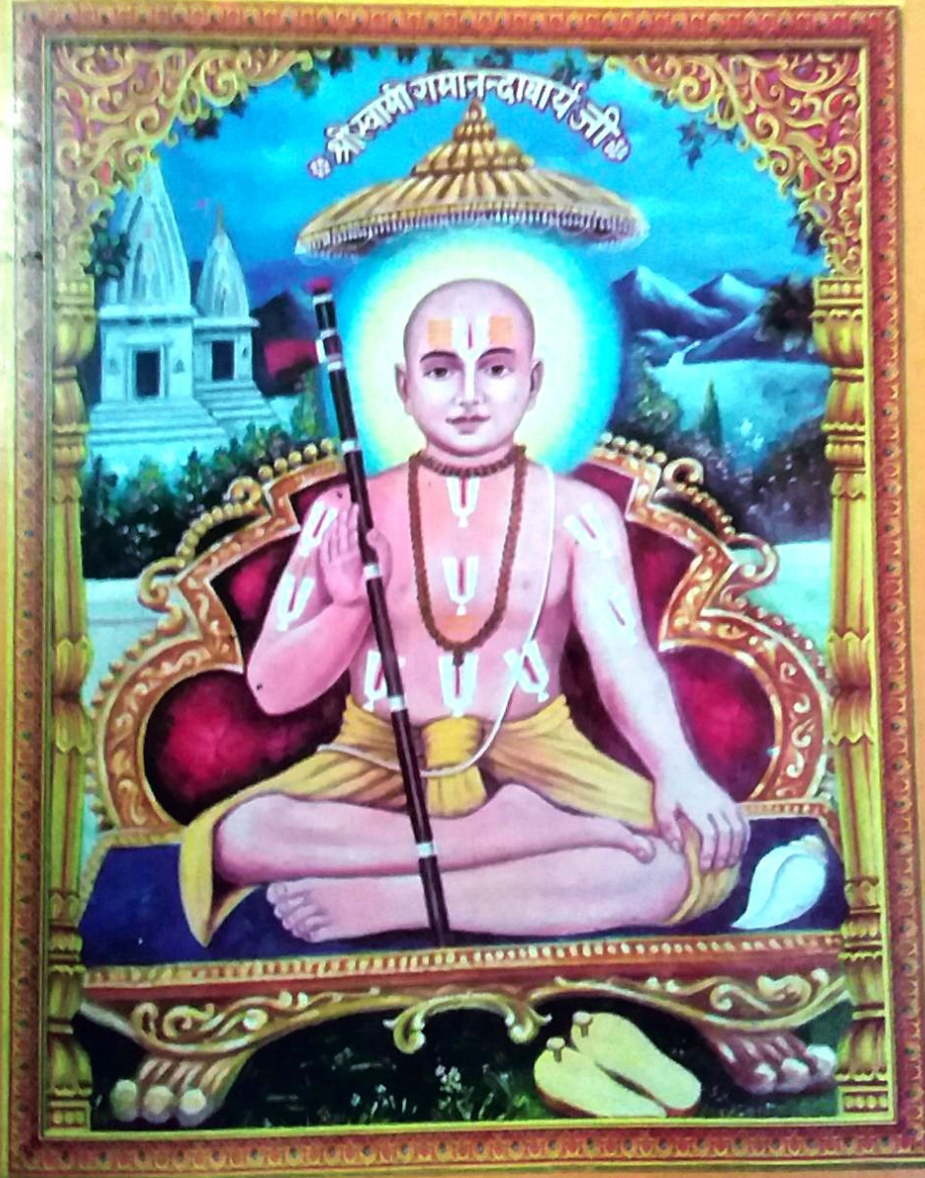
आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः ।
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः ।।

प्रकाशक

डॉ. स्वामी राघवाचार्य वेदान्ती

जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर)

श्रीबोधायन वृत्ति के आशय को लेकर अपने-अपने भाष्य के व्याख्यान में भी सूत्रों के भाष्य प्रस्ताव में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित बोधायन वृत्ति का आशय भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत होता था । प्रसंगवश भाष्यों की भी परस्पर समालोचना अथवा तुलनात्मक विवाद होता था । कई दिनों तक परस्पर वादविवाद चला परन्तु सभी भाव सर्वत्र ही सम्यक् रूप से प्रतिपादित हुए थे उनमें किसी में भी न्यूनता अथवा अधिकता नहीं थी, परिस्थिति के अनुरूप समयानुसार जैसे उस समय की परिस्थिति को लेकर जिस समय अथवा जिस विचारधारा का सामयिक प्रचार-प्रसार में जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता हुई अथवा जैसा प्रतिपादन आवश्यक हुआ उसका उसी प्रकार से उतनी ही बात उस तात्कालिक उस समय के भाष्य में वितत, विस्तृत सीमित परिमाण में सिद्ध किया । किन्तु जैसे जैसे समय सुकर सुलभ और शान्ति से विचार समय का मिलता वैसे ही उस आचार्य के द्वारा तत्कालानुरूप उसमें संशोधन, परिवर्द्धन अथवा परिवर्तन आरम्भ हुआ उसी विषय का प्रतिपादन उन-उन आचार्यों ने किया । हमारे पूर्ववर्ती भाष्यकारों के कथन भ्रम मूलक नहीं है किसी भी भाष्यकार के पाण्डित्य का लोप, अवमानना अथवा भ्रम नहीं है । उस समय जितने विषयों का अथवा तत्त्वों का व्याख्यान अपेक्षित था उतना ही विस्तार किया, उस समय वही सनातन धर्म के विचारधारा के अनुरूप समाधान के लिए पर्याप्त था, अपने-अपने भाष्य में समय-समय पर अपने-अपने भावना के अनुरूप विस्तार और प्रसार हुआ । अपने-अपने विषय के प्रतिपादन में तो पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की अपेक्षा होती है उसी प्रकार उससे पूर्व में लिखित ग्रन्थों भाष्यों को पूर्व पक्ष बनाकर ही उसके उत्तर पक्ष का प्रतिपादन अपने-अपने भाष्य में आचार्यों ने किया है ।

यहाँ किसी के मानापमान करने की इच्छा नहीं है केवल अपने-अपने सिद्धान्त की स्थापना ही लक्ष्य है । सबसे पहले आद्य शंकराचार्य जी ने भाष्य निर्माण किया था जब सर्वत्र भारत में बौद्धों का प्रभाव था भारत से बाहर भी चीन जापानादिदेशों में भी उनका अत्यधिक प्रभाव और उनके धर्म का प्रचार-प्रसार थां और भारत में परम्परागत यज्ञयागादि सम्पूर्ण प्रक्रिया समाप्त प्राय थी, मूर्तिपूजा में भी वैसा मनोयोग अथवा कर्मयोग नहीं प्रवृत्त था जैसा चाहिए, कर्म का तो विलोप ही हो गया था । और साथ ही वैदिक

विज्ञान धारा भी अस्तंगता हो गयी थी ज्ञान मार्ग भी विकृत रूप को प्राप्त हो चुका था केवल चार्वाक आदि शून्यवादी बौद्धों का ही सर्वत्र सिद्धान्त चल रहा था और स्थूल शरीर ही आत्मा है, संसार ही स्वर्ग है मोक्ष दूसरा नहीं है।

''यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥''

जब तक जीवों सुखपूर्वक जीओ, कर्ज लेकर घी पीओ, यदि कहो कि मरने के बाद पुनः जन्म लेकर भरना पड़ेगा तो कहते हैं- शरीर तो जलकर भस्म हो गया फिर उसका आना जाना कहाँ से होगा ।

इत्यादि सिद्धान्त फैले हुए थे उस समय भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने ब्रह्मवाद की स्थापना किया उस समय जितने विषयों का स्थूल रूप से विवेचन आवश्यक था उपयुक्त था उतने विषयों का ही प्रतिपादन करके ब्रह्मवाद की स्थापना किया । अत्यन्त घोर संघर्ष के समय में मण्डन मिश्रादि एवं उनकी पत्नी भारती आदि कर्मकाण्डियों और बौद्धमतावलम्बी विद्वानों के मण्डल में शास्त्रार्थ के द्वारा सबको परास्त करके ''ब्रह्मवाद का प्रतिष्ठापन'' कोई सामान्य कार्य नहीं था ।

उसके बाद स्वामी श्रीरामानुजाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर ''श्रीभाष्य'' प्रकाशित किया उसमें विशिष्टाद्वैत का सम्यक् प्रतिपादन किया । उसमें श्री शांकर भाष्य में अद्वैतवाद में उस समय जिसका विवेचन नहीं हुआ था वह सब श्री भाष्य में प्रतिपादित हुआ, फिर श्रीमध्वाचार्य जी ने अपने भाष्य में अपनी भावना के अनुरूप विषय प्रतिपादन और स्वसिद्धान्त का स्थापन किया । इसी प्रकार स्वामी श्री रामानन्दाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर सर्वजन बोध्य स्वसिद्धान्त से सम्भृत सरल संस्कृत लेखन प्रणाली से सर्वसाधारण के बोध के लिए आपामर जनमानस में प्रचार-प्रसार के लिए युग के अनुरूप आवश्यकता के अनुसार संस्कृत भाषा में सुस्पष्ट सुगम मनोरम विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक 'आनन्दभाष्य' नाम का भाष्य लिखा है और प्रकाशित भी किया है । नीति गम्भीर धीर युक्तियों से खण्डनीय विषयों का खण्डनादि और स्वसिद्धान्त का मण्डन किया गया है सुना जाता है कि भगवान् वेद व्यास जी ने प्रकट होकर उस भाष्य की प्रशंसा की है ।

पचासवाँ परिच्छेद

इस प्रकार सम्पूर्ण पृथिवी तल पर श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी की सुन्दर यश:सन्तति सैकड़ों शरद ऋतु के चन्द्रमा की सैकड़ों किरणों की तरह सन्तत समुपास्यमान होती हुई, कल्पवृक्ष की मञ्जरियों की तरह अपनी सुगन्ध का विस्तार करती हुई, समस्त भुवनमण्डल का आभूषण स्वरूपा, चारों तरफ दिग्दिगन्त परिव्याप्त होती हुई सम्पूर्ण धरती पर अधिष्ठित धर्म प्राण भूत मानवों के मानस पटल पर अपने प्रकाश के द्वारा प्रकाशित करती हुई विलास कर रही थी ।

सम्पूर्ण भुवन की राज्य लक्ष्मी की तरह विहार कर रही थी सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल के राजाओं के राजमहलों में प्रकाश करती हुई सपरिकर राजा के अंत: पुर में राजलक्ष्मी की तरह विहार कर रही थी । किं बहुना पृथिवी तल पर विलसित आपामर मनुष्यों के अन्त:करणों को नितान्त रूप से समुल्लसित करने वाली, सुभग एवं शुभ्रवदन वाली दूती की तरह उन सभी को अपने स्वामी के समीप उपस्थापित करने की इच्छा करती हुई स्वर्ग की अप्सरा की तरह मन को अभिराम देती हुई सम्पूर्ण ज्ञान की पिपासा की शान्ति के लिए स्वामी श्री रामानन्दाचार्यजी की शरण में आने के लिए प्रेरित करती थी, स्वामीजी के चरणकमलों के पराग से अपने मस्तक को पवित्र कराने के लिए, स्वामीजी के मुख कमल से समुपदिष्ट सुमधुर रसों के आस्वादन के लिए भ्रमर जैसे इतस्तत: भ्रमणशील चित्तवालों के चित्त को स्थिर करने के लिए मोहिनी मन्त्र की तरह उनके दोनों कानों में समुपदेश करती हुई आकर्षण मन्त्रों की तरह उनको स्वामीजी के समीप में लाती हुई, सम्मोहन मन्त्र तन्त्रों के प्रयोग समूह की तरह उनमें सत्संग के रङ्ग को समुल्लसित करने के लिए तरङ्गायित करती हुई स्वामीजी की कीर्ति रूपी स्त्री ने प्रत्येक भवन में अनेक प्रकार के विलासोल्लास एवं हासावलियों को किया ।

तदनन्तर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी के यश रूपी चन्द्रमा के अमृत स्रावी किरणों के सुधा से आक्षालित दृष्टि वाले हाथ जोड़े हुए कुक्कुटरुति न्यायेन क्रमश: मन्द ध्वनि में, मध्यम ध्वनि में और उत्ताल ध्वनि में स्वामी

जी की जय जयकार करते हुए सत्सङ्ग मञ्च की पावन स्थली को प्राप्त कर के स्वामी जी के अद्‌भुत और अतिशय चमत्कारों को देखने की इच्छा करते हुए श्रीमद् आचार्य चरण की करुणा कृपा कणिका की याचना करते हुए की तरह देश देशान्तर से यूथ के यूथ नर, नारी और नरपति भक्ति रूपी आसव से उन्मत्त ज्ञान पिपासा से समवेत हो गये । आकर कुछ दिन तक वहाँ रहकर सत्सङ्ग के आनन्द को प्राप्त करके स्वामी जी से निवेदन किया कि- आप श्री हमारे देश, नगर, ग्रामस्थली को अपने श्रीचरण कमल के पराग से पवित्र करने के लिए पधारें क्योंकि वहाँ के लोग राजमार्ग से जुड़ने वाली सड़कों के न होने से आने जाने में असमर्थ, दर्शनों के लिए विशेष उत्सुक और सांसारिक विलास गोष्ठियों से विमुख हैं, भावना से प्रवृद्ध वृद्धों का सम्यक् उपकार करने के लिए उनके कर्णकुहरों को अपने प्रवचनामृत सुधा से सिंचित करके भक्ति रसार्णव के अत्यन्त तरल तरङ्गों से आन्दोलित और विलोलित विलासों के पात्र जीवों के मनोरथों को पूर्ण करने के लिए ही उन स्थानों पर अपने श्रीचरण कमलों को धरकर जगत् में फैले हुए पाखण्ड मय धर्माडम्बर को दूर करके वास्तव में विशुद्ध भक्तिमार्ग का प्रकाशन करें ।

किञ्च इस समय की सर्वत्र फैली हुई स्वेच्छाचारिता और विदेशी लोगों के सम्पर्क से परिवर्तित विपरीत मनोवृत्ति और व्यवहार से बढ़ती हुई दुराचार की प्रवृत्ति को साक्षात् ही देखकर तत्काल उसको बदलकर यथार्थ रूप से धार्मिक भावना को पुनः प्रवृत्त करने के लिए ही विभिन्न प्रदेशों में पर्यटन के ब्याज से सर्वत्र धर्म प्रचार प्रसार करें ।। इति ।।

उस प्रकार की सम्पूर्ण प्रार्थना को सुनकर और मानवों की पतनोंन्मुखीवृत्ति, धर्म धारणा के ह्रास को लक्ष्य करके फिर से मनुष्यों के मन में भक्ति समृद्धि की वृद्धि के लिए दिग्विजय हेतु प्रस्थान के लिए अपने शिष्यों को बुलाकर श्रीमठ की समुचित व्यवस्था करके अपने योग्य शिष्यों के कन्धे पर मठ के कार्य सञ्चालन एवं शिष्ट विशिष्ट शिष्यों को अपने साथ चलने की आज्ञा दे दी ।

ततः किसी एक मङ्गलमय प्रभात वेला में गङ्गा सागर सङ्गम के दर्शन के बहाने से बंगालादि प्रदेशों में श्रीवैष्णवी दीक्षा का प्रचार-प्रसारपूर्वक सभी लोगों का समुद्धार करने वाला और मुक्ति प्रदान करने वाला तारक मन्त्र राज श्रीरामनाम का उपदेश करके यत्र-तत्र भक्ति मार्ग का प्रचार-प्रसार करते

हुए अपने लक्ष्य श्रीगङ्गा सागर सङ्गम स्थल पहुँच गये । वहाँ भगवान् सूर्य के प्रतिवर्ष मकर राशि में संक्रमण के अवसर पर जलों की राशि भी समुद्र स्वतः प्रकट भगवान् की प्रेरणा रूप व्यापार को आधार करके अपार-अगाध गाम्भीर्य गुणाधार भी वह समुद्र भक्तजनों के मन की प्रसन्नता के लिए अपने जल के प्रसार को सङ्कुचित करके भगवान् कपिलदेव के सम्पूर्ण तपः स्थली विशेष को विशेष भक्ति भाव से पूरित होकर न्यून करके भक्तजनों के निवासार्थ दो तीन दिन तक के लिए मानों स्वयं ही समाधि में बैठे हो, सोये हुए की तरह अपने को तरङ्गादि से रहित करके अमूल्य सेवक की तरह चारों तरफ फैले हुये अपने जल रूपी पर्दे को हटाकर महर्षि कर्दम के तेजः पुञ्ज के रूप में विराजित भगवान् श्रीकपिलदेव की मूर्ति और उनके तपः क्षेत्र को प्रतिवर्ष प्रकट करता है । वही क्रम आज भी चल रहा है वहीं स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने उसी भगवान् सूर्य के मकरराशि में संक्रमण के पुनीत अवसर पर समुद्र स्नान, श्रीकपिलदेव भगवान् का स्वरूप दर्शन करके वहाँ समुपस्थित आये हुए भक्तजनों के लिए उस स्थल की महिमा को प्रकट करके भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त कराने योग्य समुपदेशों का उपदेश दिया । और विशेष करके भगवान् सूर्य के मकर राशि में संक्रमण करते समय पृथिवी मण्डल पर तेजः तत्त्व, गोतत्त्व, ज्योतितत्त्व और आयु तत्त्व की विशाल प्रसृति परम्परा प्रवर्द्धमान होकर जगत में लोगों के जनमानस में अनेक प्रवृत्तियों को प्रकट करती है । इस संक्रमण काल में किये गये कर्म, स्नान, दान, साधु ब्राह्मणों का सम्मान और भगवान् के ध्यान का अनन्त अनन्त ही फल है यहाँ विशेष रूप से पृथिवी मण्डल पर श्रीकपिल मुनि की तपस्या स्थली का दर्शन और पर्व पर्व पर राजर्षि भगीरथ के तपः पुञ्ज प्रभा प्रचय विग्रह रूपा मूर्ति मती भगवती श्रीगङ्गा का अपने प्रियतम सागर के साथ सङ्गम स्थल में स्नान, दानादि का अनन्त गुणा पुण्य, माहात्म्य होता है इत्यादि प्रवचनों के द्वारा कुछ काल से गुप्त प्राय तीर्थ प्रभाव को पुनः अत्यन्त प्रबलता के साथ प्रवृत्त किया ।

इस प्रकार श्रीगङ्गा और सागर के सङ्गम स्थल पर सत्सङ्ग समागम सम्पादित करके साधु सन्तों एवं भक्तजनों से घिरे हुए अपने शिष्य मण्डली के साथ श्रीस्वामी जी ने श्रीजगन्नाथपुरी के प्रति आकृष्टचित्त साक्षात् स्वरूप से विराजमान भगवान् के दर्शन, चरणस्पर्श, पूजन वन्दनोल्लासादि से

विद्यमान होकर सभी कार्यों के सम्पद्यमानत्व का अनुभव करते हुए जगह-जगह पर भगवान् के गुणगणों को गाते हुए, सुनते हुए और सुनाते हुए अपने समुपदेशों के द्वारा श्रीजगन्नाथपुरी के आसपास के प्रदेशों में वहाँ के निवासियों में भक्तिरस की नदी को प्रवाहित करते हुए स्त्री, बालक और वृद्धों में भी एक बार के उपदेश के द्वारा भक्ति को संचारित करते हुए चिराकांक्षित परमपावन, अत्यन्त पुण्य प्रद श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र का दर्शन किया ।

श्रीस्वामी जी के आगमन का वृत्तान्त सुनकर श्रीजगन्नाथपुरी के निवासी स्त्री, पुरुष प्रसन्न होकर यूथ के यूथ स्वामीजी के दर्शन के लिए आने लगे । और वहाँ के राजा ने स्वामी जी के स्वागत सम्मान के लिए जगह-जगह मङ्गलतोरणद्वार बनवाये और एक विशाल सभा मण्डप भी बनवाया जो बड़ा ही सुन्दर चारों तरफ पट की परिधि से समञ्चित था विस्तृत वितान से विलसित था उसके मध्य में समुन्नत और समलंकृत मञ्चपीठिका विराजमान था उसके ऊपर आचार्य पीठिका थी समागत विद्वानों, सभ्यों, नागरिकों और ज्ञान पिपासुओं के लिए आचार्य पीठिका के समीप ही सुन्दर आसन लगे हुए थे ।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने आनन्दपूर्वक श्रद्धा के साथ सिर को प्रणत करके पुरी में प्रवेश करके भगवान् श्रीजगन्नाथ महाप्रभु के दर्शनार्थ मन्दिर के द्वार पर पहुँच कर बारम्बार प्रणाम करके भक्त्युद्रेकपूर्वक भगवान् का दर्शन किया । अपने को कृतकृत्य मानते हुए सर्वथा भगवान् की कृपा का अनुभव करते हुए भगवान् की स्तुति और परिक्रमा आदि सम्पन्न करके अपने निवास स्थल पर पहुँचकर समुद्र स्नान के लिए अपने परिकरों के साथ सागर तट पर पहुँचकर अपने समुच्छलित चञ्चल कल्लोल मालामय हजार भुजाओं से समागतों का स्वागत करते हुए की तरह अपने हर्ष प्रकर्ष और उद्‌गार की तरह जलों की हजारों लहरों का नर्तन कराते हुए, बारम्बार लीलापूर्वक जल के उल्लोलन क्रम से पाद्य, अर्घ्यादि विधि का सम्पादन करते हुए की तरह प्रसन्न अगाध जलराशि समुद्र को समझकर श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके प्रसन्नता के साथ अपने शिष्य समुदाय के साथ स्नान की विधि को सम्पन्न किया ।

तदनन्तर राजपरिकरों से सम्मानित श्रीस्वामीजी पुनः उनके साथ महान् राजकीय समारोहपूर्वक अपने परिकरों से सुशोभित श्रीस्वामीजी श्रीजगन्नाथ भगवान् के दर्शनार्थ साक्षाद् बैकुण्ठ धाम की तरह अकुण्ठित

वैभव वाले जहाँ नित्य श्रीलक्ष्मी जी विलास कर रही है सभी प्रकार के तापों के विरोधी सुन्दर शोभा से युक्त निरन्तर सहृदयों के चित्त को प्रसन्न करने वाले भगवान् के मन्दिर में प्रवेश किया । और वहाँ जाकर अखण्डवेद ध्वनि का श्रवण, अपने परिकरों के साथ स्वयं भगवन्नाम संकीर्तन, मन से श्रीप्रभु चरणों का स्मरण करते हुए भीतर प्रवेश करके उपलब्ध उपचारों से, राजोपचारों से विविध सुगन्धित गन्धादि से ऋतु के अनुरूप उपलब्ध पुष्पों से, अनेक प्रकार के पक्वान्नों, नैवेद्यों से और धूप दीप बलि, पुष्प उपहार, श्रीफलताम्बूल, दक्षिणा दो वस्त्र और आभूषणों से श्रीजगन्नाथ भगवान् का पूजन किया । और बार-बार भक्ति भाव भरित निरन्तर श्रद्धा समृद्ध आदरपूर्वक पाद संवाहन भावनापुर:सर चन्दन परम्परा की रचना करते हुए आत्मा अथवा जीव के सर्वदा ही दास्य भाव को प्रकट करते हुए अपने में सख्य भाव को परिलालित करते हुए सर्वदा स्वाभाविक भक्ति के समुद्रेक से विस्मृत आत्मभाव वाले साष्टांग प्रणाम परम्पराओं के द्वारा आत्म निवेदन करते हुए नवधा भक्ति के सभी अंगों को प्रदर्शित करते हुए श्रीसीतारामजी की उपासना पद्धति से श्रीजगन्नाथ भगवान् की समाराधना की । तदनन्तर स्तोत्रपाठादि करके मन्दिर द्वार पर आकर भगवान् के सम्मुख होकर प्रणाम किया । मन्दिर से बाहर आकर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी महाराज ने अपने आवास के प्रति लौटते हुए राजमार्ग में धीरे-धीरे दण्ड की सहायता से चलते हुए किसी ब्राह्मण को जानकर जन्मान्ध और जराजीर्ण शरीर वाला देखकर सहृदय होकर दयार्द्रचित्त परिहासपूर्वक साधारण कौतुहल वश मधुर वाणी से विनय और स्नेहपूर्वक कहा- भगवन् ! क्यों ? इस प्रकार दुखित मना होकर अपनी छड़ी को इधर-उधर फेंकते हुए आतुरतापूर्वक चपल गति से कहाँ जा रहे हो ? तपते हुए प्रचण्ड मरीचि माली सूर्य के किरणों से सन्तप्त बालुकामय मार्ग में चलते हुए क्यों परिभ्रमण के असमय एवं निषिद्ध बेला में इस प्रयास को कर रहे हैं तीव्रगति से जाने में क्या कारण है ? इस प्रकार सरस मधुर प्रेमयुक्त अमृतमयी वाणी को आचार्यश्री के मुख से सुनकर दयार्द्र होकर वह बोला भगवन् ! मैं ब्राह्मण कुलोत्पन्न कान्यकुब्ज नाम का दीन हीन जन्मान्ध ब्राह्मण हूँ । आज मैंने सुना है कि यहाँ श्रीरामानन्दाचार्य जी महाराज पधारे हैं उन्हीं के दर्शन के लिए तीव्रगति से जाना चाहता हूँ किन्तु यदि मेरे कुछ जन्मान्तरीय पुण्य होंगे तब उनका दर्शन होगा ही और मेरा परिश्रम भी सफल होगा ।

श्रीस्वामीजी- तो भगवन् ! बिना नेत्रों के उनका दर्शन कैसे करोगे?

ब्राह्मण:- लम्बी सांस लेकर ओम् महात्मन् ! आप ठीक कह रहे हैं मैं अभागा जन्मान्ध हूँ क्या करूँ ऐसा कहते-कहते उसके नेत्रों से गर्म तेल की बूँदों की तरह सहसा कुछ बूँदें गिरी । उस दैन्य दृश्य को देखकर सहज दयार्द्रहृदय स्वामीजी के हृदय में दया का स्रोत निकल पड़ा । वे उसके वैसे अत्यन्त दुखद दृश्य को देख नहीं सके तब उसके समीप जाकर अपने हाथों से उसके आंसूओं को पोछते हुए धीरे-धीरे अपने करकमल के स्पर्श से उसके आंखों के ऊपर मीजते हुए उसे आश्वासन दिया कि इस प्रकार रोओ मत भगवान् बहुत जल्दी ही तुम्हारा कल्याण करेंगे निश्चय ही भगवान् की बहुत बड़ी कृपा है 'चिन्ता मत करो ।

इस प्रकार स्वामीजी के करतल के संस्पर्श से पवित्र शरीर जन्मान्तरीय पाप समूह के नष्ट हो जाने से वह ब्राह्मण श्रीस्वामी जी की कृपा से स्वामीजी के करतल स्पर्श के बहाने पुन: प्रकाशित तेज: पुञ्ज से नेत्रों को प्राप्त करके अत्यन्त प्रसन्न होकर दिव्य ज्योति से सम्पन्न होकर अपने नेत्रों से सामने समुपस्थित हल्के खिले हुए मुखकमल से नि:सृत मकरन्द की तरह मधुरतम वचनामृत निर्झरिणी के सुसलिलसेक से उल्लासित विवेक के भण्डारस्वरूप श्रीस्वामीजी को देखकर परमानन्द में निमग्न होकर श्रद्धा समृद्ध आदरपूर्वक गदगदस्वर में स्वामी जी के चरणों को पकड़कर अपूर्व ज्योतिलाभ से पूरित अन्त:करण भक्तवत्सल साक्षात् श्रीजगन्नाथजी को ही अपने समीप आया हुआ मानकर कृतकृत्यता को प्रकट करता हुआ स्वामी जी की स्तुति किया ।

तत्पश्चात् श्रीस्वामीजी ने तत्काल चरणों में गिरे हुए ब्राह्मण को उठाकर सहजकरुणावश हृदय से लगाकर आलिंगन करके आश्वस्त करते हुए उसके जन्मान्तरीय पापों का प्रक्षालन करते हुए उसके कर्म को प्रकाशित किया । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! तुम्हारे पूर्वजन्म के पापों का फल ही जन्मान्धत्व है, उस समय आपने किसी निर्दोष पशु को क्रोधावेश में आकर दण्डे से पीटते हुए उसके आंखों को नष्ट कर दिया था उसी पाप का ही यह परिणाम था । इस समय देवाधिदेव भगवान् श्रीजगन्नाथ जी के चरणों में आकर आपने बहुत दिनों तक उनके मन्दिर की सीढ़ियों पर पड़े रजों का प्रतिदिन अंजन अपनी आँखों में लगाया था उसी पुण्य के प्रताप से तुम्हारे सारे पाप नष्ट हो गये ।

इस समय भगवान् की कृपा से तुम्हारे नेत्र पटल दिव्यालोक से आलोकित हो गये हैं इस समय प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करके अपने नेत्रों की सफलता प्राप्त करो । इस प्रकार अनेक आश्वासन सुख के साथ ही पुनः नेत्रज्योति प्रदान कर उसका उपकार किया और सम्यक् उपदेश दिया कि अनेक लीला शरीर धारण करने वाले अनेक नामरूप गुण और धर्मादि के भेद से पार्थक्य को प्रकट करने वाले देव, मानव, पशु पक्षी कीट पतंगादि असंख्य-शरीरमय जगद्मय जगदीश के जिस किसी भी जड़ जंगमादि रूप में विश्वात्मा में सर्वदा सब जगह सभी रूपों में विद्यमान परमात्मा का ही साक्षात् अथवा परम्परया परोक्ष अपरोक्ष रूप से विद्यमान का ही दर्शन करते हुए उस परमात्मा को वहीं विद्यमान समझकर कहीं भी कुप्रवृत्ति कुचेष्टा अथवा कुत्सित व्यवहार मत करना, उनके प्रति दुर्भावना भी न करना और न ही हीन भावना करना सर्वदा ही सर्वरूप परमात्मा के प्रति निम्न व्यवहार न करना और नीच या उच्च भावना भी न करना । सभी जड़ चेतन का सम्मान ही करना । मधुर स्नेह युक्त वाणी से ही व्यवहार करना चाहिए इस बात का हमेशा ध्यान रखे कि किसी का भी किसी वचन से अपमान न हो जाय । किसी भी ज्ञात अथवा अज्ञात कर्म से कहीं किसी का अपकार न हो जाय जो अपनी आत्मा को दुखी करे । यह ध्यान रखना चाहिए ।

इस प्रकार अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जानकर शान्त ब्राह्मण अमृतमय वचनों के श्रवण से प्रसन्न कर्ण वाला प्रसन्न चित्त होकर श्रीस्वामीजी के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हुए वर एवं प्रसाद को मानो प्राप्त करके अन्तरात्मा से प्रसन्न होकर स्वामीजी के गुणगणों की प्रशंसा करता हुआ स्वामीजी के उपदेशों का स्मरण करता हुआ अपने जीवन को स्वामीजी के दर्शन से ही सफल मानता हुआ अपने घर पर आकर सभी से स्वामी जी के गुणगणों की प्रशस्ति को गाकर सुनाया । तत्पश्चाद् वह अद्भुत घटना आधे क्षण भर में ही बिजली की तरह सर्वत्र पुरी में फैल गयी । दूर-दूर से लोग उत्कण्ठापूर्वक स्वामीजी के दर्शनार्थ आने लगे । आचार्य श्री के निवास स्थल पर अपार लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी ।

तदनन्तर अपने शिष्य परिकरों के साथ स्वामीजी अपने आवास पर ही मध्याह्न भोजन के रूप में श्रीजगन्नाथजी के महाप्रसाद को प्राप्त करके कुछ समय विश्राम करके पुनः सभा मण्डप में आकर के विराजमान हो गये ।

जहाँ पहले से ही हजारों श्रोता अपने स्त्रियों के साथ युवा एवं वृद्ध, योगी, संन्यासी महात्मा और नागरिक यथा स्थान पर बैठे थे उस समय चारों तरफ स्वामीजी की जय जय ध्वनि हुई ।

आकर आचार्यश्री ने सभी भावुकों भागवतों को सम्बोधित करके पूछा कि आप लोग क्या सुनना चाहते हैं ? सभी लोग एक स्वर में बोले भगवन् ! हम सभी के मन में विद्यमान 'परलोक' विषयक शंका का आप उन्मूलन करें ।

शंका- न स्वर्ग है न मोक्ष है और न ही शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा है और वर्णाश्रम के अनुरूप विहित कर्मों का कुछ भी फल नहीं है । ये सारी कल्पनाएँ अज्ञान के कारण ही हैं जो स्वार्थी धूर्त विद्वान थे उनकी मानसिक कल्पना भयों को उत्पन्न करने वाली भीरु लोगों के मन को मोहित करने वाली सम्पूर्ण मानवों को उन्मादित करने वाली मदिरा के समान मिथ्या है ।

श्रीस्वामिन:- हँसते हुए शान्त मधुर स्वर में सभी को सम्बोधित करके कि आप लोग विशुद्ध चित्त से कुतर्क कौटिल्यादि दोषों को हटाकर विवेकपूर्वक विवेचन की भावना से सिद्धान्त के ज्ञान के लिए तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए शान्तमना होकर सावधानीपूर्वक बैठकर सुनिये मनन कीजिए पुन: चिन्तन कीजिए ।

हे महानुभावों ! भावुकों भगवद् भक्तों ! आप सभी लोग सनातन धर्मावलम्बी हैं अनेक शास्त्रों के पण्डित हैं सत्संग के प्रेमी हैं तत्व जिज्ञासु हैं इस समय विद्यमान हैं आप लोगों द्वारा की गयी शंका अपूर्व नहीं है कई बार हुई है जब-जब स्वेच्छाचारी लोगों की बाढ़ आती है तब-तब ऐसी शंका होती है कुछ लोगों में प्रवृत्त भी हो जाती है समय-समय पर इस शंका का अनेकों बार अनेक प्रकार से समाधान भी हुआ है ।

आप लोग अपने घर में ही दृष्टि डालकर देखें कि यदि आपकी शंका का आधार 'परलोक' की कल्पना मन: कल्पित एवं मिथ्या है तो आप लोगों के घर में जो स्त्रियाँ हैं कहीं दूर में विराजमान हैं आपके सम्बन्धियों के घर में जन्म लेने वाली है दूसरी पुत्रियाँ दूसरे-दूसरे प्रान्त की रहने वाली है विभिन्न स्वभाववाली हैं वे सब एक ही परिवार में कुलकामिनी बनकर विराज

रही हैं कोई सुखी हैं कोई दुःखी है कोई प्रसन्न है कोई भक्त है कोई अभक्त है सब एकमति की हैं एक ही घर के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ महापुरुष की आज्ञा में रहकर यथा-मान, यथा स्थान, यथायोग्य, श्रद्धा, भक्ति वा स्नेह प्रेम से अथवा वात्सल्य से व्यवहार करती है इसका मूल कारण क्या है ? किसी-किसी के घर में दुष्ट पुरुष के अधीन होकर परम साध्वी सदाचारी माताएँ भी कभी-कभी क्रोधातुर क्रूर पति के द्वारा मारे जाने पर भी उनके मार को सहकर कुछ भी नहीं बोलती हैं और उनके दुष्ट व्यवहार को लोक लज्जा के कारण किसी और से नहीं कहती हैं इसमें क्या कारण है ?

क्यों और कैसे वे सभी सत्कुलीन साध्वी सुन्दरियाँ अनुचित व्यवहार के होने के बाद भी आप लोगों के घर में रहती हैं ? सौजन्यपूर्ण व्यवहार करने वाली उन स्त्रियों के मन में उन दुष्ट सासु ससुर और पतियों के प्रतिशोध की भावना क्यों नहीं होती है ? इस पर आप लोग शान्त होकर विचार करें । यदि उनके मन में परलोक की भावना न होती अपने पातिव्रत्य धर्म के पालन का भय न होता, पातिव्रत्य धर्म का पालन करने पर अपने-अपने पतियों के साथ स्वर्गादि लोकों में बैकुण्ठादि लोकों में जैसे इन्द्र के साथ शची, भगवान् विष्णु के साथ लक्ष्मी, कैलास में भगवान् शंकर के साथ पार्वतीजी आनन्दपूर्वक परमानन्द सुख का अनुभव करती हैं वैसे ही हम लोग भी सुखी होंगी यह परलोकमयी शुभाशा न हो तो आप लोगों के कठोर व्यवहार को वे क्यों सहन करेंगी ? यह परलोक की भावना ही उन सबको अपने-अपने धर्म-कर्म और व्यवहार में प्रवृत्त करती है ।

नहीं तो, आप कौन ? किसका पति ? कैसा दोनों का सम्बन्ध ? अरे सम्बन्ध तो प्रेम का ही होता है वह तो आपने उसको मार पीटकर तोड़ दिया इस समय आप उसके कौन है ? यदि कहें कि मैं उसका पति हूँ तो इसमें क्या प्रमाण है ? यदि आप कहें कि अग्नि को साक्षी देकर वैदिक मन्त्रों के द्वारा मैंने इसका पाणिग्रहण किया है तो यदि वह उस समय के अग्नि के साक्षी न माने और कह दे कि जाइए और अग्नि से शिकायत कीजिए मैं नहीं मानती हूँ जैसा कि आजकल न्यायालय में हो रहा है बहुत से स्त्रियों का सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है यदि सब जगह वैसा ही होने लगे तो क्या कोई सुखी रह पायेगा ? किसी की भी गृहस्थी चलेगी कोई धर्म-मर्यादा का पालन करेगा शुद्ध सन्तान परम्परा देखने को मिलेगी तब गृहस्थ

का वर्तमान व्यवहार भी नहीं चल पायेगा कि यह मेरी बहन है, यह मेरी शाली है । इन दोनों में कोई शारीरिक भेद तो नहीं है फिर अपनी बहन और शाली में कैसे भेद व्यवहार करेंगे ? और समवयस्क ननान्दा और भाई की पत्नी में भेद करेंगे ? अपनी पत्नी और अपनी बहन में क्यों नहीं एक ही प्रकार का प्रेम संचार हो जाता है ? यहाँ भी परलोक का भय ही है जो पाप प्रकोप से बचाता है दूसरा कोई कारण नहीं है ऐसी शंका करने वाले क्यों नहीं अपनी बहन के साथ ही विवाह कर लेते हैं ? क्योंकि उन्हें पाप का भय है परलोक का भय है ।

इसलिए परलोक की भावना ही एवं परलोकजन्य भय ही हम सभी लोगों को अपनी मर्यादा में संचालित होने के लिए और सम्पूर्ण लोक व्यवहार पितापुत्र, गुरुशिष्य, माता, बहन, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, गुरुपत्नी, गुरुपुत्री, सास, ससुर, शाला, शाली, फुआ, मौसी, मामा मामी आदि परलोक के आधार पर स्थित है । यदि परलोक नहीं मानेंगे तो सबका विप्लव ही हो जायेगा अत: सबको सुदृढ़तापूर्वक परलोक को स्वीकार करना चाहिए, मानना चाहिए ।

अधिक क्या कहें- हमारे आचार-विचार, धर्मशास्त्र, वर्णाश्रम विभाग, धार्मिक श्रद्धा, आस्तिक्यभाव, भगवन्निष्ठा, वेद, पुराण, स्मृतियां देवता स्वर्गादि ये सब परलोक में विश्वास करने पर ही मान्य हैं प्रतिदिन का क्रिया कलाप, लोकव्यवहार और व्यापार सब परलोक पर ही आधारित हैं यज्ञयागादि कर्म, तत्फल ये सब परलोक के अधीन है अत: सम्पूर्ण सृष्टि का विधारक परलोक है ।

इस कथन में परलोक साधन में अनेकों प्रमाण है जैसे कठोपनिषद् में नचिकेता के प्रति यमराज ने कहा है कि-जो प्रमादी है धनमद में उद्धत है अभिमान से सिर उन्नत है जिनका जो मूढ हैं ज्ञान विज्ञान से शून्य हैं और जिनकी परलोक में श्रद्धा नहीं है वे लोग बारम्बार जन्म लेकर मेरे अनुशासन में आते हैं बन्धनादिका अनुभव करते हैं अत: यह श्रुति भी परलोक की स्थिति का वर्णन करती है ।

और भी छान्दोग्योपनिषद् में जो ये लोग वन में श्रद्धापूर्वक तप करे हैं उपासना करते हैं वे लोग अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं । और जो लोग ग्राम में रहकर इष्टापूर्त्त दान करते हैं वे लोग धूम्रादि मार्ग से जाते हैं इत्यादि मन्त्रों

के द्वारा जीवात्मा के परलोक गमन की बात श्रुति स्पष्ट करती है और भी श्रुतियाँ प्रमाण हैं- जैसे जो श्रद्धापूर्वक तप करते हैं उपवास करते हैं वन में शान्तिपूर्वक भिक्षावृत्ति करते हैं वे विद्वान् लोग सूर्य द्वार से दिव्य लोक जाते हैं जहाँ अमृतत्व की प्राप्ति होती है (मु.उ.)

इस श्रुति के द्वारा भी सूर्य द्वार अर्चिरादि देवयान मार्ग से दिव्य लोकों के गमन की सिद्धि हो रही है । योगियों अथवा विद्वानों के लिए । इसके बाद ऋग्वेद में भी इन्द्र, अग्नि, मैत्रावरुण, अदिति, स्वर्ग, पृथिवी, द्यौ आदि लोकों के नाम प्रकाशित किये गये हैं और पृथक्-पृथक् लोकों की स्थिति का भी प्रतिपादन किया गया है इसी प्रकार यजुर्वेद में और संहिता में भी "नाकं गृभ्णाना: सुकृतस्य लोके एवं पाद्यमसादनात् पापलोकान्" इत्यादि वाक्यों से भी पापियों के लिए यमलोक से अन्यत्र यातना लोकों की स्थिति है जहाँ पापी लोग भेजे जाते हैं अथवा यमदूतों के द्वारा ले जाये जाते हैं । इसी प्रकार गीता में भी-सतोगुणी लोग ऊर्ध्व लोग में जाते हैं रजोगुणी लोग मध्य में ही रह जाते हैं घृणित तमोगुणी वृत्ति वाले लोग अधो लोक में जाते हैं ।

इस प्रकार सत्व गुणवृत्तिवालों का ऊर्ध्वगमन, रजोगुणीवृत्ति वालों की मध्य में स्थिति, घृणित कर्म करने वालों की अधोलोक नरकादि में गमन कहा गया है दूसरी बात परलोक की सिद्धि दूसरी विधि से पुनर्जन्म के द्वारा भी हो सकती है ।

पुनर्जन्म- पुनर्जन्म के विषय में महाभारत में एक प्रसंग है जब शरशय्या पर पड़े-पड़े पितामह भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे थे उस समय शरशय्या में सोते हुए सम्पूर्ण शरयातना का अनुभव करते हुए ही स्थित थे फिर जब सूर्य के उत्तरायण हो जाने के बाद योग धारणा से अपने प्राणों का उत्सर्ग करके यमपुरी यमराज के पास जाकर कहा- हे धर्मराज ! मुझे अपने सौ जन्मों की याद है मैंने ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं किया है जिसका फल मैं मृत्यु के समय शरशय्या पर पड़ा-पड़ा भोग रहा था क्या कारण है ? आपने मुझे ऐसा दण्ड क्यों दिया ?

तब धर्मराज ने कहा भगवन् ! ठीक है आपने सौ जन्मों में ऐसा कोई अनुचित कर्म नहीं किया है किन्तु सौ जन्म के पहले एक जन्म में आपने किसी निर्दोष पक्षी के बच्चे को (तोते को) उसके प्राण रक्षा की

भावना से ही अन्य घातक जन्तुओं कौओं आदि से रक्षा के लिए उसको एक स्थान पर रखकर बेर के कांटों से ढक दिया और ढककर अपने घर चले आये और भूल गये । वह तोता भी भूख और प्यास से व्याकुल मैं कांटों से ढका हूँ यह न जानता हुआ उड़ने की इच्छा से जैसे ही वह उड़ा वैसे ही सैकड़ों कांटों से उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया वहीं गिर गया बाहर निकलने के अक्षम होने से वहीं शरीर छोड़ दिया । उसी कर्म से जन्य पाप का फल आपको शरशय्या पर मिला । इससे स्पष्ट होता है कि हमारे कई जन्म हैं हम लोगों ने पूर्वजन्म में जो-जो कर्म किये हैं वही इस जन्म में अनुभव कर रहे हैं और भी संसार में बहुत से दृष्टान्त हैं पातञ्जल योगसूत्र में भी समस्त क्लेशों का जो मूल है कर्माशय अर्थात् वासना वह पूर्वजन्मों के द्वारा जानी जाती है यदि कर्माशय का कुछ भी अंश विद्यमान है तो उसका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग मिलेगा । इसके द्वारा पूर्वजन्म में अर्जित कर्मों का फल दूसरे जन्म में मानव, पशु, अथवा पक्षी के रूप में भोगना पड़ता है ।

गीता में भी- जिन-जिन भावों का स्मरण करके मनुष्य अन्त में अपना शरीर छोड़ता है हे अर्जुन ! उसी भाव से भावित होने के कारण वह वहीं बन जाता है । और भी हे अर्जुन ! हमारे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत गये उनको हे परन्तप ! मैं जानता हूँ तुम नहीं । इसी प्रकार अनेक जन्मों के बाद ज्ञानी मेरी शरण को प्राप्त होता है । और भी- पूर्वजन्म में अर्जित विद्या, धन और स्त्री को मनुष्य अगले जन्म में प्राप्त करता है ।

गर्भोपनिषद् में- जब गर्भ सातवें महिने में जीव के साथ संयुक्त होता है आठवें महिने में सर्वांग लक्षण सम्पूर्ण होता है नवमें महिने में सम्पूर्ण ज्ञान के करणों से युक्त होकर पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों का स्मरण करता है अपने पूर्व कर्मों को स्मरण कर करके गर्भान्तर्गत कष्टों को जब नहीं सहन कर पाता तब बाहर निकलने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है सैकड़ों शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! यदि मैं इस योनि से निकल गया तो नारायण की शरण ग्रहण करूँगा, सांख्य और योग का अभ्यास करूँगा, सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा इत्यादि । फिर जब प्रसूति वायु के द्वारा वहाँ से उठाकर बाहर फेंका जाता है तब सूक्ष्म योनि द्वार से निकलते हुए महान् क्लेश का अनुभव करते हुए प्राण को संकट में पाकर किसी तरह से बाहर आकर सांसारिक दशा को प्राप्त कर सब कुछ भूलकर मैं कहाँ मैं

कहाँ इस प्रकार कहते कहते रोने लगता है फिर पूर्वजन्म विहित कर्मानुसारही उच्च नीच कुल में उत्पन्न हो जाता है कर्मानुरूप ही सुख दुखादि फलों का अनुभव करता है ।

वृहदारण्यक में भी- जो जैसा कर्म करता है जैसा आचरण करता है वह वैसा ही होता है । अच्छा कर्म करने वाला अच्छा और पाप कर्म करने वाला पापी होता है पुण्यात्मक कर्म से पुण्यजन्य सुख पाता है पापात्मक कर्म से पापजन्य दुख पाता है । पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के सम्बन्ध से ही पुनर्जन्म होता है । गीता में- योग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेते हैं अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में जन्म लेते हैं आगे भी अनेक जन्मों तक साधना करने पर अन्त में परागति को प्राप्त होते हैं इत्यादि से स्पष्ट पुनर्जन्म सिद्ध होता है ।

इक्यावनवाँ परिच्छेद

अब वर्णाश्रमव्यवस्था

सबसे पहले भगवान् ने सृष्टि रचना काल में समुत्पन्न प्राणियों के हित सम्पादन के लिए उनके लोक व्यवहार के लिए अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार व्यवहार करने के लिए अपने-अपने कर्म में अनुरक्त होकर वे सब अपने-अपने व्यवसाय में संसक्त प्राणी आनन्दपूर्वक सुख के साथ प्रेम और उल्लासपूर्वक निवास करें इसको स्थिर करने के लिए ही वर्णाश्रम व्यवस्था को स्थापित, प्रवर्तित और प्रसारित किया है । प्राणियों को उत्पन्न करके प्रकृति के अनुसार कुछ लोगों को वेदाध्ययन-अध्यापन-यजनयाजन प्रयोग उपासनापूर्वक शमदम तपशौच क्षमा, सरलता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य भावोल्लासित कर्म और वेद में आसक्त मन वालों में ब्राह्मणत्व, उसी प्रकार शौर्यतेज धैर्य, उत्साह सुरक्षा प्रजापालनपूर्वक युद्ध में स्थिरता दानमानपूर्वक दुष्ट दमनादि मर्यादा पालन लोक की स्थिति के निमित्त कर्म निरत लोगों में क्षत्रियत्व, इसी प्रकार लोगों के लिए हर प्रकार की सामग्री की व्यवस्था कृषि कर्म गोसेवा व्यापार के द्वारा सभी मानव की सेवा में प्रवृत्त लोगों में वैश्यत्व और तीनों वर्णों की सेवापूर्वक उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की कलाओं के द्वारा वास्तुकला शिल्पकला, हाथी घोड़े रथादि के चलाने में दक्ष लोगों में तथा सभी की चिन्ता शोकादि के निवृत्ति में कुशल लोगों में शूद्रत्व । जो दूसरे के शोक दूसरे करके सुखी करे उसे शूद्र कहते हैं इस व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ के प्रतिपादक लोगों को शूद्र नाम से व्यवहार होता है । इस प्रकार क्रम से चार प्रकार के मानवों में उन उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार ही उनके तत्तत्कर्म के सूचक वर्णव्यवस्थादि है । इससे सभी प्राणी अपने-अपने कर्म का सम्पादन करते हुए एक-दूसरे की आवश्यकता को आपस में पूरा करते हुए सम्पूर्ण लोक यात्रा का निर्वहन करते हैं उसी प्रकार ही उनके नामों और कर्मों को भगवान् ने परिकल्पित किया है ।

जैसा कि जो लोग ज्ञान विज्ञान की निधि होकर अखिल शास्त्रों के ज्ञाता होकर हमेशा मन्त्र तन्त्रादि के बल से अचानक आये हुए आधिदैविक,

आधिभौतिक आपत्तियों के निवारण में समर्थ अपने से इतर समस्त वर्णों की सुरक्षा रूप कार्य में सदा सर्वदा चमड़े की तरह कार्य करते थे जैसे युद्ध के होने पर तलवारादि के आघात से आक्रान्त योद्धा अपने हाथ में विद्यमान कछुए का पीठरूप चमड़े से अथवा खड्गमृग (जलगज) के पीठ के चमड़े से निर्मित ढाल से अपनी रक्षा करता है उसी प्रकार ब्राह्मण अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मन्त्र तन्त्र औषधादि के बल से समय-समय पर सभी की रक्षा करते थे इसीलिए उनके नाम के साथ शर्मा शब्द का व्यवहार होता आ रहा है जैसे देवदत्त शर्मा ब्राह्मण आदि ।

इसी प्रकार क्षत्रिय भी अपने-अपने कर्म में ब्रह्माजी से निर्दिष्ट व्यापार में संलग्न होकर अपने नियम के अनुसार अपने से इतर ब्राह्मण वैश्य शूद्रों की रक्षा करते थे जैसे योद्धा संग्राम में आक्रान्ता शत्रुओं से अपनी आत्मा की कवचादि धारण करके कवच के द्वारा रक्षा करते हैं उसी प्रकार क्षत्रिय भी कवच स्थानीय होकर कवच जैसे ही सबकी रक्षा करते हैं इसीलिए वे वर्मा कहे जाते हैं जैसे रामसिंह वर्मा इति ।

उसी प्रकार जिनकी प्रवृत्ति और रूचि कृषि कर्म में गो सेवा में व्यापार व्यवसायादि में एक देश से दूसरे देश में दैनिक उपयोगी वस्तुओं को लेकर खरीदकर कुछ ज्यादा लाभ से दूसरी जगह ले जाकर बेचते हैं और जो लोग वहाँ की बहुमूल्य वस्तु को दूसरी जगह ले जाते हैं और मनमानी लाभ कमाते हैं इस प्रकार व्यापार एवं व्यवसाय को करके वस्तु संग्रह, द्रव्य संग्रह करते हुए मार्ग में अपने स्थान में अपने धन और वस्तुओं की सुरक्षा चाहते हैं अत: उन सभी की सुरक्षा आधिदैविक आपत्तियों से ब्राह्मण, भौतिक आपत्तियों चोर लुटेरे आदि के द्वारा समुत्पन्न और अन्य दुष्ट मानवों के द्वारा समुत्पन्न विपत्तियों से राजा और क्षत्रिय लोग उनकी रक्षा करते हैं इसलिए वे सब सर्वदा रक्षणीय है परम्परा से सृष्टि से प्रारम्भ से ही सदा वे ब्राह्मणों क्षत्रियों के द्वारा रक्षित हुए हैं इसलिए उन्हें गुप्त कहा जाता है जैसे रामजीलाल गुप्त इति ।

इसी प्रकार तीन वर्णों की सेवा के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादनार्थ अन्य निर्वाह के उपयोगी जो साधन है उसके लिए सर्वलौकिक वस्तुओं के निर्माण के लिए घट पटादि के निर्माण के लिए पृथक्-पृथक् कार्य के भेद तत्कर्म करने वालों के लिए तत्तद् नाम से व्यपदेश होने से नाना

होने से तत्तद् भावानुरूप कर्मानुरूप प्रयोग के बोधक संज्ञाएँ उनकी हो गयी जैसे लकड़ी का काम करने वाले का नाम बढ़ई, लोहे का काम करने वाले का लोहार सोनादि धातुओं का नाना आभूषणों का काम करने वाले का सुनार, मणिकार, रथकार चमार, गोपाल, शिल्पी, माली, कुलाल, दर्जी, जुलाहा, चित्रकार, शस्त्रकार, जुआरी, चाण्डाल, रेवाड़ी, देवमूर्ति सेवक, मृदंग बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, बहेलिया, दासदासादि अनेक कर्म करने वाले कर्म प्रणेता, कर्मकला के उपजीवी वनपालादि पृथक्-पृथक् यूथ के यूथ अपने-अपने कर्म के अनुरूप हो गये । समान व्यसन और समान शील वाले बन्धु बान्धव हो गये । वे सब दास होने से दासों के जैसा कर्म करने से दास पद वाच्य हो गये ।

इस प्रकार सरलतापूर्वक सानन्द लोक व्यवस्था सम्पादन करने के लिए सृष्टि कर्ता ब्रह्मा ने वर्णव्यवस्था की परिकल्पना की है इतना ही नहीं, अपितु सकल चराचर जगत् में जड़ चेतनों में भी यह व्यवस्था प्रवृत्त हुई । तैत्तिरीयोपनिषद् में- सभी वनस्पतियों का कारण पलाश है इति । जैसे कि वृक्षों में भी पलाश, बिल्व, चलदल, इङ्गुदी, गुलर, शमी, कदम्बादि बरगदादि देववृक्ष ब्राह्मण, शिंशपा, निम्ब, बेंत, कपित्थ, राजादन पारिजातादि क्षत्रिय, आम, कनैल, नाग केशर, पुन्नागादि वैश्य । श्लेष्मात्मक सौवीर बेर का फल, सन्तरा, तेन्दू का पेड़, महुआ का पेड़, सहतूत आदि अनेक सेवा परायण वृक्ष फल पुष्प और छायादि के द्वारा सदा ही जन सेवा में रत रहते हैं फलों के द्वारा सकल प्राणियों का पोषण करते हैं शोक को दूर करके उन्हें सन्तुष्ट करते हैं इसीलिए शूद्र हैं क्षुधा मिटाने वाले, दीन पशु पक्षियों के उपकारी वृक्ष फलते हैं झुकते हैं और उपकार करते हैं अधिक क्या कहें-नीरस वृक्ष भी अपनी सूखी लकड़ियों से इंधन रूप से सदा सेवा करते हैं मरकर भी । इसी प्रकार पशुओं में भी गौ-ब्राह्मण, अश्व हाथी क्षत्रिय रूप, भैंसादि वैश्य रूप है ऊँट, गदहा, बकरी, भेंडादि शूद्र हैं । पक्षियों में भी- हंस, शुक सारिका ब्राह्मण, चटका-गौरैया कबूतर कोयल क्षत्रिय, हरित कपोत वैश्य और कादम्ब कौआ, जलकुक्कुट, कुक्कुट क्रौञ्च आदि शूद्र हैं हिंसक तो सब क्षत्रिय ही हैं उनमें भी शृगालादि क्षुद्र प्राणी शूद्र ही है ।

इसके बाद मानवादि के शरीर में भी वर्णव्यवस्था है- जैसे मस्तक कण्ठ से केश तक जो ज्ञान विज्ञान का भण्डार है वह ब्राह्मण है उसी प्रकार

हृदय बाहु हस्तादि क्षत्रिय, शरीर का मध्य भाग उदर 'वैश्य, सकल शरीर के भार वहन करने और कर्म करने में जो दक्ष है जानु से लेकर जंघा पैर अंगुली तक सब शूद्र है चरण तक शुद्र भाग है यह सब प्रकार की गमनागमनादि क्रिया समूह का सम्पादक भाग है ।

जिस प्रकार यह वर्ण विभाग मनुष्यों में है उसी प्रकार देवताओं, गन्धर्वों और नागों में भी है जैसे महाभारत शान्ति पर्व में- देवताओं में द्वादश आदित्य क्षत्रिय, ऊनचास मरुद् गण वैश्य, उग्र तपस्या में लगे हुए दोनों अश्विनीकुमार शूद्र हैं और अंगिरा गोत्रीय बृहस्पति आदि ब्राह्मण हैं । सर्पों में भी सुवर्ण के रंग वाले पीले रंग वाले ब्राह्मण हैं वे सब बिना उपद्रव के होते हैं निर्वैर होते हैं बिना आक्रमण-आघात के काटते नहीं है । इस प्रकार के सर्प प्रायः पितर लोग होते हैं जो जमीन के गाड़े हुए धनादि में वासना के कारण मोहावृत होकर जिस किसी के घर में घूमा करते हैं क्रीड़ा करते हैं और अपने पूर्व जन्म के पुत्र पौत्रादि मुग्ध शिशुओं के द्वारा पकड़े जाने पर भी उन्हें काटते नहीं है वहाँ हजारों वर्ष तक वहाँ निवास करते हैं उनके पूर्वजन्म के गाड़े हुए निधिभूत धन की रक्षा करते हैं ।

जो लाल वर्ण के होते हैं सूर्य और चन्द्र के आकार के चिन्ह वाले होते हैं वे क्षत्रिय हैं और काले रंग के कठोर चमड़े वाले हाथी भैंस के समान वर्ण वाले जो होते हैं वे सब शुद्र हैं । और भी ज्योतिष शास्त्र में भी २८ नक्षत्रों में वर्ण व्यवस्था है जैसे क्रम से कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा पुनर्वसु पुष्य अश्लेषा ये ब्राह्मण हैं । मघा पूर्वा फाल्गुन-उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति विशाखा ये क्षत्रिय है । अनुराधा ज्येष्ठा मूल पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा अभिजित श्रवण ये वैश्य है । धनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद रेवती अश्विनी भरणी ये शूद्र हैं । इस प्रकार बारह राशियों में भी मीन, वृश्चिक, कर्क राशि ये ब्राह्मण हैं, मेष, सिंह, धनु ये क्षत्रिय हैं, मिथुन तुला कुम्भ ये शुद्र हैं कन्या, वृष, मकर ये वैश्य हैं ।

और वेदादि में भी वर्ण व्यवस्था है जैसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋग्वेद से वैश्य वर्ण उत्पन्न है अतः ऋग्वेद वैश्य है क्षत्रियों की योनि यजुर्वेद है अतः यजुर्वेद क्षत्रिय हैं, ब्राह्मणों की योनि सामवेद है अतः सामवेद ब्राह्मण है इस मन्त्र में सामवेद को ब्राह्मण, यजुर्वेद को क्षत्रिय ऋग्वेद को वैश्य तथा शेष अथर्ववेद को शूद्र कहा गया । इस कथन से सिद्ध होता है कि लोक में

मूर्ति प्रतिपादक यो वेद भाग है वही ऋक् है वही स्वरूप की प्रतिष्ठापिका अर्थात् सम्पूर्ण आकार को जन्म देने वाली है आकार निर्माता ऋग्वेद नामक भाग से समस्त चराचर जगत का स्वरूप निर्माण हुआ, और जैसे वैश्य व्यापार के द्वारा सर्वत्र हर प्रकार की वस्तु को प्रतिष्ठित करके अनेक रूप से नगर सज्जा का सम्पादन करते हैं इसलिए ऋग्वेद को वैश्य एवं निर्माण कुशल कहा गया । और आकार निर्माण के बाद उसमें गति संचार का कार्य यजुर्वेद का है जैसे ऋग्वेद का देवता अग्नि वही स्वरूप का उत्पादक है उसी प्रकार यजुर्वेद के देवता वायु हैं वही सर्वदा गतिमान् और गति उत्पन्न करते हैं प्रत्यक्ष में हमारे श्वास प्रश्वास सर्वदा चलता रहता है यह सब कार्य वायु का है प्राण वायु जब तक नियम से चलता है तब तक मूर्ति की यथास्थिति होती है अन्यथा मृत प्राय हो जाती है अत: वायु गति सम्पादक है उसी प्रकार यजुर्वेद भी इसी प्रकार सामवेद भी स्वयं ज्योति स्वरूप है प्रकाशशील सर्वत्र ज्योति प्रदान करने वाला है ज्योति के साथ ही विस्तार आकार प्रसार को जन्म देता है । प्रकाश स्वरूप ज्योति शरीर में जैसे नेत्र सबका प्रदर्शक है उसी प्रकार सामवेद भी सर्वत्र व्याप्ति का विस्तार करता है और अपने मण्डल का विस्तारण करता है । इस प्रकार होने पर स्वरूप की प्रतिष्ठा, गति-क्रियाशीलता तथा ज्योति का प्रकाश विस्तार (स्वरूप गति मण्डल प्रभागों के हो जाने पर भी) लोक में क्रियाकलाप कैसे होंगे ? उनकी कल्पना कैसे करेंगे ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सर्व प्रकार के क्रिया कारण विधि विधान का विद्योतक, सकल मानवों के मन में स्थित ज्ञान जनित शोक नाश का कारण भूत जो शोक को दूर करे वह शूद्र इस व्युत्पत्ति से अथर्ववेद है वह शूद्र संज्ञक है और भी अनेक प्रकार के उचित-अनुचित सभी के कर्म समूह का विधि विधानपूर्वक अथर्ववेद में वर्णन मिलता है अनेक प्रकार के प्रयोग रहस्य के साथ अथर्ववेद में प्रतिपादित हैं । शूद्रों में भी सर्व प्रकार से कार्य करने की क्षमता को देखकर के ही शूद्रत्व कहा गया है उसी प्रकार वेदों में भी सम्पूर्ण विशिष्ट वेद बोधित अनेक प्रकार के तन्त्र मन्त्र यन्त्रों के विधान का निधान होने से अथर्ववेद को शूद्र कहा गया है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋग्वेद से सब प्रकार की मूर्तियाँ उत्पन्न होती है सभी प्रकार की गति यजुर्वेद से, सब प्रकार के प्रकाश सामवेद से प्रकट हुआ है इस प्रकार ब्रह्माजी ने सबकी सृष्टि का हृदय में

संकल्प किया है । इस प्रकार वेदत्रयी का स्वरूप प्रतिपादित हुआ क्योंकि वेद में तीन भाग है छन्दोबद्ध पद्य रूप मन्त्र ऋग्वेद नाम से व्यवहृत हैं । प्रकृष्ट गद्यात्मक जो मन्त्र हैं वे यजुर्वेद एवं जो गाने के योग्य हैं वे सामवेद कहे जाते हैं इस प्रकार पद्य, गद्य, गेय्र यह विभाग है । तदनन्तर यज्ञ प्रकरण में प्रायः चार काम करने वाले होते हैं होता, उद्गाता, अध्वर्यु सबका निरीक्षक ब्रह्मा ये चार होते हैं उनमें होता का ऋग्वेद, उद्गाता का सामवेद अध्वर्यु का यजुर्वेद और वेदत्रयी में स्थित गद्य-पद्य-गेय समुदायात्मक मन्त्र भाग वह अथर्ववेद है उसका विज्ञाता ब्रह्मा ही होता है वही चतुर्वेद, चतुर्मुख सर्वकला में दक्ष नियामक और नियन्ता होता है अथर्ववेद का प्रयोक्ता ब्रह्मा ही होता है इस प्रकार वेद में चातुर्वर्ण्य का विभाग है सर्वत्र है गीता में- मैंने गुण और कर्म के विभाग से चारों वर्णों की सृष्टि की है मुझ अविनाशी अकर्ता को ही उसका भी कर्ता मानो ।

केवल गुणों अथवा कर्मों को देखकर उनकी जैसी प्रवृत्ति थी जैसी कर्म में रूचि थी जैसा स्वभाव था उनमें तदनुरूप ही वर्णों में उनका सन्निवेश किया है इसलिए समान रूप आकार वालों में अलग-अलग वर्ण के अनुरूप नाम कर्म और व्यापारों को देखकर ही उनका ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि शब्दों से व्यवहार किया गया । भागवत में कहा गया है- मानवों में तत्तत्स्वभाव और कर्मों को देखकर वर्ण व्यवस्था किया गया है । जैसे- शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवान् में आत्म समर्पण भाव और सतो गुण देखकर ब्राह्मण कहा गया । शौर्य, वीर्य, धृति, तेज, त्याग, मनोविग्रह, क्षमा ब्राह्मण भक्ति, प्रसन्नता और रक्षा गुण को देखकर क्षत्रिय, देवताओं गुरुजनों और भगवान् के प्रति भक्ति भाव, ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्रों के पोषण का भाव आस्तिकता, उद्यम नित्य नैपुण्य को देखकर वैश्य और नम्रता, पवित्रता, अपने स्वामी के प्रति निश्छल सेवा भाव बिना मन्त्र के यज्ञ सत्य भाषी सत्य गो और ब्राह्मण की रक्षा देखकर शूद्र शब्द का व्यवहार किया जाता है ।

और भी आकार और रूप के एक जैसे होने पर भी उनमें बाहरी और भीतरी भेद की दृष्टि से ही भेद उपलब्ध होता है केवल देखने मात्र से उनका वैशिष्ट्य नहीं जान सकते । ब्राह्मणों में तेज की विशेषता सबसे अधिक होने से तप की प्रधानता होने से तेज विशेष भस्म से ढके अग्नि

की तरह बाहर प्रकट नहीं दिखायी देता है । इसी प्रकार क्षत्रियों में क्षात्र तेज ओज प्रच्छन्न ही रहता है जब तक वे शत्रुओं से आक्रान्त न हो जाये । जैसे कुहरे से ढकी प्रचण्ड सूर्य की किरणों में तीक्ष्णता नहीं दिखती है । जैसे मोती हीरा माणिक्य आदि के भस्मों अथवा रसायनों का अथवा हजारों पुट पाक पाचित अभ्र भस्म की महिमा अथवा प्रभाव सामान्य रूप से नहीं देख सकते किसी वैद्य के बिना और न ही रत्नों के मूल्यों का मूल्यांकन कर सकते हैं बिना रत्न परीक्षक जौहरी के । इसी प्रकार एक आकार वाले प्राणियों में बलाबल का परिचय समय पर ही मिलता है केवल दर्शन से नहीं । यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय ये सब एक जैसे हाथ पैरादि आकार वाले होते हैं फिर भी पुरुषार्थ प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न होता है इसी प्रकार देवादि में सर्वत्र जड़ चेतनादि में भी भिन्न-भिन्न गुण और वीर्य सर्वत्र यथा सौभाग्य से उपलब्ध होते हैं ।

ये सभी वर्ण केवल नाम से भिन्न है पर वास्तव में परब्रह्म के अवयवभूत हैं जैसे अपने शरीर में मुख, हाथ, पैर उदरादि सभी अवयवों के भिन्न होने पर भी शरीर तो एक ही हैं जिस किसी भी अवयव में व्यथा होगी तो पूरा शरीर शिथिल खिन्न दुखी होगा । केवल एक भाग नहीं, अतः चारों वर्णों का स्वरूप भगवान् के अंगों में स्वतः प्राप्त होता है जैसे परब्रह्म परमात्मा का मुख ब्राह्मण, ब्राह्मण की उत्पत्ति भगवान् के मुख से ही हुई है एवं क्षत्रियों की भगवान् की भुजाओं से, ऊरू से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है इसीलिए सम्पूर्ण शरीर के संवाहक पैर ही हैं उसी प्रकार शुद्र सभी वर्णों के संवाहक सर्व विध सेवा करने वाले और व्यवहार संचालक होते हैं इसी प्रकार आपस्तम्बसूत्र में भी- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र ये चार वर्ण होते हैं इनमें जन्म की दृष्टि से ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ, क्षत्रिय वैश्य शुद्रों में क्षत्रिय श्रेष्ठ, वैश्य शुद्रों में वैश्य श्रेष्ठ होते हैं । जैसे दोनों पैरों से ऊपर ऊरु है उसी प्रकार शुद्रों से वैश्य श्रेष्ठ हैं एवं ऊरु से ऊपर भुजाएँ होती है अतः वैश्य से श्रेष्ठ क्षत्रिय हो गये । इसी प्रकार बाहु से ऊपर मुख होता है सकल ज्ञान का साधन, सकल ज्ञानेन्द्रियों से युक्त ज्ञान का भण्डार मस्तक होता है । सन्मार्ग का दर्शक ब्रह्म विद्या सम्पन्न वेदविद् ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि होता है सभी वर्णों का उपदेष्टा वेत्ता और सर्वमान्य ब्राह्मण ही होता है ।

इसी प्रकार चारों वर्णों के स्वभाव और गुण के अनुरूप सबके कर्म अलग-अलग है जैसे गीता में हे अर्जुन ! स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म विभक्त हैं । और भी अपने-अपने कर्म में लगे रहने से मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म यदि दोष युक्त भी हो तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए । और छां. उपनिषद् में- परलोक से इस लोक में जन्म लेने वाले जो सुन्दर आचरण करने वाले हैं वे सुन्दर योनि को प्राप्त करते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि को । और निन्दित आचरण करने वाले लोग हैं वे निन्दित योनि को प्राप्त करते हैं कुत्ते की योनि, सूकर की योनि अथवा चाण्डाल योनि ।।

इस प्रकार पहले-पहले जन्मों में अर्जित सत् असत् कर्मों से ही अग्रिम जन्म का निर्माण होता है स्वयं जीवात्मा करता है स्वस्व कर्म के अनुरूप तत्तद् शरीर को प्राप्त होता है सत्कर्मों से उत्तम शरीर, असत्कर्मों से अधम शरीर यह बात रमणीय चरण और कपूर चरण शब्दों से प्रतिपादित होता है । स्मृति में यज्ञ की सिद्धि के लिए मुख से ब्राह्मणों की सृष्टि की । कर्मानुसारेण जैसे उत्पत्ति होती है वैसे ही वेदों में कहा है- सुश्रुत संहिता में भी- कर्म से प्रेरित होकर के ही जीव पुनर्जन्म प्राप्त होता है उसके स्वभाव के अनुसार ही उसके शरीर के अंगों का निर्माण होता है । इतना ही नहीं, गुण और अगुण के अनुसार अंग प्रत्यंग का निर्माण होता है । और भी- रज और वीर्य के संयोग होने पर जो दोष उत्कट होते हैं उसी के आधार पर जीव का स्वभाव बनता है उसका लक्षण सुनो । इसी प्रकार गीता में भी- जब सतो गुण की वृद्धि से देहाध्यास मिट जाता है तब उत्तमवेत्ताओं के विमल लोकों को प्राप्त करता है जब रजोगुण की वृद्धि में प्रलय होता है तब कर्म संगियों के मध्य उत्पन्न होता है और जब तमोगुण में प्रलीन होता है तो मूढ योनियों में प्रकट होता है । इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म के अनुसार ही पुनर्जन्म है पूर्वजन्म की प्रकृति स्वभाव के अनुरूप ही दूसरे आगे वाले जन्म में शरीरादि की प्राप्ति तदनुरूप स्वभाव कर्म की प्रवृत्ति होती है ।

यहाँ यह शंका कभी भी न करें कि यह व्यवस्था कुल परम्परा से वर्ण विभाग जन्म जाति क्रमानुसार न स्वीकार करके कर्म के अनुसार माननी चाहिए । क्योंकि वर्तमान गुण और कर्म के अनुरूप वर्ण व्यवस्था सुस्थिर

नहीं हो सकती है न होगी लोगों की चित्तवृत्ति के चंचल होने से । हर क्षण परिवर्तनशील विचार भाव भावना धारणा शक्ति शील स्वभाव के कारण एकरूप में वर्णव्यवस्था सुस्थिर नहीं रह सकेगी और न ही कोई मनुष्य किसी एक प्रकार के ही कर्म में स्थिर हो सकता है वर्तमान के लोग तो कहीं न्यायप्रिय प्रकृति के होकर न्याय नियमों का अध्ययन करके न्यायाधीश बनकर निर्णय देते हैं और सेवा निवृत्त होने पर खेती का काम शुरू कर देते हैं उससे निवृत हेकर व्यापार का काम शुरू कर देते हैं वह एक ही कभी न्यायाधीश, कभी किसान और कभी आदान प्रदान कर्ता व्यापारी हो जाता है ।

इस प्रकार कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती है और एक प्रकार का व्यवहार भी नहीं कर सकते हैं । एक ही पुरुष ब्राह्मणोचित्त कर्मों को करके ब्राह्मण हो जाता है फिर वही वैश्य का कर्म भी करने लगता है फिर क्षत्रियोचित्त कर्म भी करने लगता है उस समय तत्काल की चेष्टा, प्रवृत्ति उसके पुत्र पुत्रियों के लिए उनके समुदाय में वैवाहिक कार्यक्रम के लिए कौन सा कर्म देखकर सम्बन्ध स्थापित होगा और कर्म परिवर्तन के पश्चात् आगे उनका सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा कि बना रहेगा ? ऐसी स्थिति में महाविप्लव हो जायेगा अत: कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था ठीक नहीं है अत: जन्म से ही ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तानों में ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय से क्षत्रियाणी में उत्पन्न सन्तानों में क्षत्रियत्व, वैश्य से वैश्यस्त्री में उत्पन्न सन्तानों में वैश्यत्व, शुद्र से शुद्रास्त्री में उत्पन्न सन्तानों में शुद्रत्व होता है अन्य में नहीं यही सुगम सुप्रतिष्ठित सुस्थिर और सुव्यवस्था है यह स्वीका करना चाहिए ।

जहाँ कहीं "जाति की परिवृत्ति होने पर धर्मचर्या के द्वारा जघन्य वर्ण भी पूर्व पूर्व वर्ण को प्राप्त कर सकता है जैसे आपस्तम्बसूत्र में लिखा है । इत्यादि वाक्य मिलते हैं जिससे तत्व से अनभिज्ञ लोग रहस्य को नहीं जानते हैं वे लोग भ्रान्त हो जाते हैं परन्तु उन वाक्यों में लिखा है कि "जाति परिवृत्तौ" यहाँ जाति शब्द 'जनिप्रादुर्भावे' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर जाति शब्द निष्पन्न होता है और ज्ञा अवबोधने धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भी जाति शब्द बनता है । अब यदि जनि प्रादुर्भावे का रूप मानकर विचार करें तो जाति परिवृत्ति का अर्थ जन्म परिवृत्ति होगा । क्योंकि एक ही जन समुदाय में वर्ण समूह में जन्म लेने वाले वर्ग में प्रयुक्त यह जाति शब्द लोक

में प्रसिद्ध है और व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ तो उत्पत्ति वालों का समूह जन्म लेने वालों का समुदाय । इसलिए उस की परिवृत्ति होने पर उत्तम से उत्तम अथवा अधम से अधम रूपता को प्राप्त करता है मनुष्य धर्मचर्या के द्वारा अर्थात् धर्माचरण करता हुआ ही प्राण त्याग के बाद उत्तम वर्णों में तत्तत्कर्मानुरूप जन्म ग्रहण करता है । यह तात्पर्य है यदि महर्षि विश्वामित्र का उदाहरण प्रस्तुत करें तो वे तो क्षत्रिय रत्न श्रीगाधि के पुत्र क्षत्रिय होकर ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त किये ।

इस प्रकार कर्म के प्रभाव से तपः प्रभाव से क्षत्रिय से ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त किया विश्वामित्र ने । कैसे ? यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विश्वामित्र जी यद्यपि जन्म से क्षत्रिय के क्षेत्र में उत्पन्न होने से क्षत्रिय हुए जैसे भगवान श्रीराम भगवान् श्रीकृष्ण । यद्यपि भगवान् के लिए इस प्रकार का प्राकृतिक प्रतिबन्ध नहीं है फिर भी भगवान् ने स्वयं वर्णव्यवस्था का पालन और संरक्षण किया है इसी प्रकार महात्मा ऋचीक ने समस्त तपस्वियों के तेज:पुंज को इकट्ठा करके एक पुंसवन चरु बनाया और समस्त क्षत्रियों के तेज:पुंज को इकट्ठा करके दूसरा पुंसवन चरु बनाया उसके बाद वे स्नान के लिए चले गये । उसी बीच महर्षि ऋचीक की पत्नी सत्यवती और उनकी सासु (महाराज कुशाम्बु की राजरानी) दोनों आयीं । ऋचीक ने अपनी पत्नी को बता दिया था कि यह चरु तुम्हारे लिए हैं और यह चरु तुम्हारी मां के लिए हैं परन्तु उसकी मां के हृदय में पाप शंका हो गयी और अपनी पुत्री का चरु स्वयं खालिया और अपना चरु बेटी को खिला दिया । लौटकर महर्षि ने आकर दोनों के स्वभाव में परिवर्तन देखकर पूछकर यह रहस्य प्रकट किया कि दोनों ने बहुत बड़ा अनर्थ कर दिया, राजा के घर में ऊर्ध्वरेता महान् तपस्वी और हमारी पत्नी में भयंकर क्षत्रिय होगा । यह सुनकर दोनों भयभीत और खिन्न हो गयी और पश्चाताप करने लगी । उनको दुखी देखकर तपस्वी महात्मा ने कुछ परिवर्तन करके कहा कि तुम्हारे पुत्र नहीं तो पौत्र अवश्य ही कुल के विपरीत स्वभाव के होंगे । फलतः कुशाम्बु के घर गाधि और ऋचीक के जमदग्नि हुए अनन्तर गाधि के पुत्र परम तपस्वी विश्वामित्र एवं महर्षि के घर में जमदग्नि के पुत्र पराक्रमी, शस्त्रधारी क्षत्रियों के विनाशक श्रीपरशुराम हुए । इसलिए ब्रह्मर्षि श्रीविश्वामित्र-गर्भाधान से पहले ही समस्त ब्रह्मर्षि गणों के तपः तेज से युक्त हो गये थे । तेजः परमाणु पुञ्जमय शरीरी

होकर ही चरु रूप से गर्भगत ब्रह्मर्षियों का परमाणु लेकर ही प्रकट हुए थे कोई सामान्य क्षत्रिय नहीं थे । सामान्य लोगों के लिए ऐसा दृष्टान्त नहीं उचित नहीं है अत: वर्णव्यवस्था जन्मना मानना ही उचित है ।

स्वामी जी से किसी जिज्ञासु ने पूछा भगवन् ! आपके श्रीसम्प्रदाय में वर्ण व्यवस्था की क्या स्थिति है ? सुना है आपके सम्प्रदाय में सभी वर्ण के लोग दीक्षा लेकर प्रवेश कर सकते हैं यहाँ केवल त्रिवर्गों का अधिकार नहीं है अधिक क्या ? अन्त्यज भी अधिकारपूर्वक दीक्षा ले सकता है यहाँ क्या उचित है ?

श्रीस्वामिन- भगवन् ! हमारा श्रीसम्प्रदाय भी वैदिक ही है अत: जो वैदिक व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म की है वह यहाँ भी मान्य है उससे भिन्न कोई व्यवहार या प्रयोग नहीं है परन्तु श्रीवैष्णव दीक्षा में जैसे त्रिवर्ण का अधिकार है उसी प्रकार चतुर्थ वर्ण का भी, अपने उद्धार के लिए भगवान् की शरणागति के लिए सभी पापी से लेकर चाण्डाल तक सबका अधिकार है । सभी जीव अपने बन्धन से मुक्ति चाहते हैं केवल मानव ही नहीं अपितु सभी प्राणी अपने-अपने उद्धार की इच्छा रखते हैं चाहे वो नर हों या नारी । पशु हों या पशुघाती पशु पक्षी, कुत्ता हो या चाण्डाल सकल जीव निकाय के लिए भगवान् की भक्ति का मार्ग सुलभ है वहाँ किसी वर्ण, आचार, वैदुष्य, कुल सम्पन्नता, विपन्नता बल और पौरुष की कोई आवश्यकता नहीं है वहाँ तो केवल अनन्य सुदृढ़ सर्वश्रेष्ठ निश्छल भक्ति की अपेक्षा है वह भक्ति जहाँ होगी पशु पक्षी मानवादि में वहाँ प्रभु विहरण करते हैं वही प्राणी भगवान् को परम प्यारा है जो हमेशा भगवान् का ध्यान करता है उन्हीं को अपना सर्वस्व प्रियतम मानता है । भगवन्निष्ठ होकर अहर्निश उन्हीं का चिन्तन करता है भगवान् के चरण कमलों में जिसका मन भौंरा बनकर निरन्तर मंडराता रहता है वही भगवान् का प्रिय होगा । वहाँ जाति कुल क्रमादि की आवश्यकता नहीं है कहा भी है- देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि कोई भी हो यदि गोविन्द के चरणों का भजन करता है तो उसका कल्याण होता है जैसे हम लोगों का । भागवत में श्रीप्रहलाद जी अपने साथियों से कहते हैं हे असुर बालकों ! भगवान् की प्रसन्नता के लिए द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, वैदुष्य, दान, तप, यज्ञ, शौच, व्रत आदि आवश्यक नहीं है भगवान् तो अमला भक्ति से प्रसन्न होते हैं भक्ति के अलावा शेष विडम्बना मात्र है ।

इस प्रकार भक्ति मार्ग में जात्यादि वर्णाश्रमादि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है सभी के लिए यह सुलभ सुगम और निष्कण्टक मार्ग है । समुन्नत कुल में जन्म लेकर भी मानव यदि भक्तिहीन है तो भगवत्प्रियों भगवदीयों की गणना में वह उतना श्रेष्ठ नहीं है जितना एक नीच कुल में उत्पन्न भगवान क चरण कमलों की पराग को चाहने वाला जिसने रात दिन भगवान के चरणों का चिन्तन करके समस्त पाप समूह को समाप्त कर दिया है । जो अनन्यभाव के द्वारा भक्ति से अनुरञ्जित चित्त वाला है ऐसा व्यक्ति श्वपच चांडाल भी वैष्णव भक्तों श्रेष्ठाति श्रेष्ठ माना जाता है । कहा भी है- बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण यदि भगवान् के चरणों से विमुख है तो उससे वह श्वपच श्रेष्ठ है जिसने अपना सर्वस्व भगवान् में समर्पित कर दिया है सम्पूर्ण देह के अभिमान को छोड़ दिया है सर्वात्मना भगवान् की शरण हो गया है । क्योंकि प्रह्लाद जी कहते हैं कि धन, उत्तम कुल में जन्म, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष और बुद्धियोग ये सब भगवान् की प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं है भगवान् तो भक्ति से गजेन्द्र के ऊपर प्रसन्न हो गये । अत: इस भक्ति मार्ग में सभी भक्तों का प्रवेश, अधिकार और स्वीकृति है ।

जिज्ञासु- भगवन् ! यदि श्रीसम्प्रदाय शास्त्र सम्मत और वैदिक है तो "स्त्री शुद्र, द्विजाधमों को वेद श्रवण का अधिकार नहीं है" इस नियम से वेद स्वरूप वैदिक मन्त्रों का उनकी दीक्षा में कैसे प्रयोग करते होंगे । इसमें क्या रहस्य है ?

श्रीस्वामीजी- भगवन् ! ठीक है- हमारा श्रीसम्प्रदाय सम्पूर्ण जीव निकायों के काय का शोधक है सकल सुलभ साधनों से सम्पन्न है एकमात्र भक्तिरूप पुरुषार्थ से सम्पन्न है सभी के उद्धार के लिए प्रयत्नशील है इसलिए वैदिक मर्यादा के अनुसार प्रसारात्मक मन्त्र भी वैसे ही उनमें प्रणव (ॐ) का योग नहीं है वहाँ तो तन्त्रशास्त्रानुरूप प्रणव जैसा ही बीजाक्षरों का उपयोग होता है पात्र के अनुरूप मन्त्र दीक्षा का विधान है परम भागवतत्व सम्पादन के लिए अनन्य शरणागतों के लिए । षडक्षर मन्त्र अष्टाक्षरमन्त्र, दशाक्षर, पञ्चदशाक्षर बत्तीस अक्षर का मन्त्र ये भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं इनमें छ: अक्षर वाला तारक मन्त्र दो प्रकार का होता है पहला "श्रीरामाय नम:" यह श्रीसीताराम का बोधक है इसमें चाण्डाल तक का अधिकार है जो भी भक्ति से युक्त है उन सबका उद्धार करने वाला और सर्वदा कल्याण करने वाला है

दूसरा मन्त्र बीज से युक्त 'रां रामाय नमः' है यह विरक्तों और त्रिवर्णों का कल्याण करने वाला है इसी प्रकार श्रीसीतायै नमः श्रीलक्ष्मणाय् नमः, श्रीहनुमते नमः इत्यादि मन्त्र सभी वर्णों के लिए हैं उसी प्रकार विरक्तों महात्माओं त्रिवर्णों साधुओं के लिए श्रींसीतायै नमः, ॐ लंलक्ष्मणाय नमः, ॐ हं हनुमते नमः । और भी- आठ अक्षर वाला मन्त्र शरणागति मन्त्र ''श्रीरामः शरणं मम'' यह सबके लिए एक है विद्वानों के लिए दूसरा भी है श्रीमते रामचन्द्राय नमः एवं ''श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये'' ये दशाक्षर एवं पञ्चदशाक्षर मन्त्र है एवं प्रपत्ति प्रतिपादक मन्त्र- ''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।। यह बत्तीस अक्षर का चरम मन्त्र है इस प्रकार जिज्ञासुओं की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार दीक्षा दी जाती है । इसलिए वैदिक सिद्धान्त का व्याघात नहीं है । जो स्त्री शूद्र द्विजाधम वेद के अधिकारी नहीं है वे भी यदि भक्ति भावना से भावित अन्तःकरण वाले सुदृढ़ानुरागी भगवच्चरणासक्त है तो सर्वात्मना भगवन्निष्ठ होने से शरणागति मन्त्र दीक्षा के योग्य हैं ।

ऐसा भक्त श्वपच भी यदि हो तो वह भी भगवद् भक्ति से रहित उत्तमोत्तम वर्ण वाले अभक्तों से सर्वथा श्रेष्ठ एवं पूज्य हैं उसको सामान्य व्यक्ति अथवा तत्तज्जाति का व्यक्ति नहीं समझना चाहिए जैसे रविदासजी, सेनाजी, धन्नाजाट आदि अनेकों अन्त्यज भक्त हो गये जिसकी कथा भक्त माल ग्रन्थ में सुनते हैं सुना है कि गिरिराजधारी श्रीनाथजी अपने अनन्य भक्त श्वपच बालक के साथ खेलते थे उस समय खेल के मध्य में ही उत्थापन का समय जानकर पुजारियों ने शंख बजाया सुन कर ठाकुर जी खेल छोड़कर मन्दिर में भागे पीछे से श्वपच बालक ने उनका पीताम्बर पकड़कर खींच दिया पीताम्बर का एक टुकड़ा श्वपच बालक के हाथ में आ गया । पुजारी मन्दिर में ठाकुरजी का वस्त्र फटा देखा, गोस्वामी जी के चरणों में निवेदन किया । जब खोजा गया तब पीताम्बर का टुकड़ा उस श्वपच के घर में मिला देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ यह जनश्रुति है इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की कृपा के लिए कोई वैदिक प्रतिबन्ध नहीं है वहाँ तो प्रेम का अलौकिक सम्बन्ध है प्रेमासक्ति ही अनन्यां भक्ति है उससे तो उत्तरोत्तर सर्वोपरि अनुरक्ति बढ़ती है इसलिए भगवान् के भक्त को जो शूद्र, निषाद अथवा श्वपच आदि जाति सामान्य बुद्धि से देखता है वह निश्चय ही नरक को

जाता है । भगवान् कहते हैं हे देवि ! मेरे पञ्चायुधों (पञ्चसंस्कारों) से युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये सब मेरे स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है । जो अनन्य भगवद् भक्त होते हैं वे तो भक्तों को भगवान् ही मानते हैं सर्वात्मना भगवन्निष्ठ चित्त वाले होने से उनके हृदय में सर्वदा भगवान् के निवास करने से उन्हें सब में भगवान् का ही दर्शन होता है । अतः भगवान् के भक्तों को भागवत धर्मों, भगवान् के मन्दिरों, भक्तों, प्रतिमाओं, गुणों धामों और भगवान् के नामों में थोड़ा भी भेद नहीं मानना चाहिए ।

अर्थात् ब्राह्मण की दीक्षा के समय मुनि लोग कहते हैं कि अमुक ब्राह्मण ने दीक्षा ली वैसे ही क्षत्रिय को भी दीक्षा लेने के पश्चात् वेद उसके ब्राह्मण कहकर सम्बोधित करते हैं ।

''ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षितौ ।

तस्माद् राजनय वैश्या अपि ब्राह्मणा इत्यद्वेदयति'' -आपस्तम्बस्य

अर्थात् जो कोई भी वर्ण दीक्षा ग्रहण करता है वह ब्राह्मण हो जाता है इसी से क्षत्रिय व वैश्य भी दीक्षा के बाद ब्राह्मण कहे जाते हैं ।

''न शूद्रा भगवद् भक्तास्तेतु भागवताः स्मृताः

सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने ॥'' -पद्मपुराण

भगवान के भक्त शूद्र नहीं होते अपितु उनको भागवत कहते हैं, वस्तुतः सभी वर्णों में वही शूद्र हैं जो भगवान के भक्त नहीं हैं।

''यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस विधानतः ।

तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जयते नृणाम् ॥'' -तत्तसार

जैसे रसायन के साथ संस्कार होने पर कांसा सोना बन जाता है उसी प्रकार मनुष्यों में दीक्षा संस्कार होने से द्विजत्व उत्पन्न हो जाता है अर्थात् दीक्षित मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है ।

बावनवाँ परिच्छेद

इस प्रकार लौकिक अलौकिक वेद शास्त्र और व्यावहारिक युक्ति-प्रयुक्तियों से सर्वविषयक प्रश्नोत्तरों को अपने सिद्धान्त के अनुरूप सम्पादित करके सभी जिज्ञासुओं के मन को सन्तुष्ट करके शंकातंक रूपी पङ्क के प्रक्षालन में परम पटु महामनस्वी स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने श्रीजगन्नाथपुरी से प्रस्थान की कामना से श्रीरामेश्वर धाम जाने की इच्छा से सम्पूर्ण नर और नारियों भक्त जनों से पूजित एवं अनेक रत्न निकर एवं प्रधान उपहारों से सम्मानित स्वामी जी ने वहाँ समुपस्थित ज्ञान पिपासु श्रद्धालु वहाँ के भक्तों को स्नेह एवं अपने आशीर्वाद परम्परा से तथा प्रेम भरी वाणी से अभिनन्दित एवं सन्तुष्ट किया ।

प्रस्थान के समय श्रीस्वामी जी श्रीजगन्नाथ मन्दिर में भगवान् की प्रार्थना करके उनकी स्तुति करके प्रसन्नता की मुद्रा में वरदान देने के लिए सतत उद्यत विराजमान साक्षात् भक्त वत्सल श्रीजगदीश को बार-बार प्रणाम करके समुद्र के तट पर आकर समुद्र के जल का आचमन एवं स्पर्श करके लौटने के लिए तैयार थे उसी समय वहाँ के लोगों ने प्रार्थना किया कि यह समुद्र अपने उच्छ्वास से अपने प्रवाह से प्राय: सम्पूर्ण पूरी को जलमग्न कर देते हैं अत: समस्त जनता सर्वदा सन्त्रस्त होती है अत: एतदर्थ ऐसा कोई उपाय करें कि समुद्र ऐसा न करें 'ऐसी प्रार्थना सुनकर स्वामी जी अपनी मन: शक्ति को प्रकल्पित करके अथवा जलस्तम्भिनी विद्या को स्मरण करके वहीं खड़े रहकर ही सम्पूर्ण पूरी के चारों तरफ एक मान रेखा खींचकर समुद्र से प्रार्थना किया कि अब आप इस रेखा का उल्लंघन न करें इति ।

और भी वहाँ के चन्दन सरोवर में प्राय: गरमी में जल का अभाव हो जाता था उसके लिए वहाँ के लोगों ने स्वामीजी से प्रार्थना की, तब स्वामी जी ने जल प्रपूरिणी विद्या का स्मरण करके सरोवर में कमण्डलु का जल डालकर भगवान् श्री जगन्नाथ जी से प्रार्थना करके कहा कि आज के बाद यह सरोवर कभी नहीं सूखेगा हमेशा जल बना रहेगा । तब से आज तक सुना जाता है कि समुद्र ने कभी भी उस रेखा का लंघन नहीं किया और

न ही चन्दन सरोवर कभी सूखा । सदा ही मध्य भाग में कमल पंक्तियां शोभा देती हैं कमलों के पराग के जैसे पीतवर्ण की जलराशि की तरह उसका जल विराजमान है उसके बाद फिर लोगों ने उसे सूखते नहीं देखा । यहाँ किसी किसी के मत में स्वामी जी के शिष्य रत्न श्रीकबीर दास जी के जलस्तम्भ विद्या के प्रभाव से समुद्र आगे नहीं बढ़ता है ऐसी मान्यता है । इसी प्रकार चन्दन सरोवर के विषय में भी स्वामी जी के द्वितीय शिष्य श्रीयोगानन्द जी के जल प्रपूरिणी विद्या का प्रभाव है यहाँ चन्दन सरोवर में भी अक्षुण्ण जलराशि प्रकट हो गई है । ऐसी जनश्रुति भक्तों में प्रसिद्ध है चाहे किसी की महत्ता हो परन्तु सर्वत्र गुरु जी का प्रभाव ही चमत्कार का विस्तार करता है इस प्रकार कलिंग देश में भी श्रीराम भक्ति का प्रचार प्रसार करते हुए वहाँ प्रस्थान करते हैं ।

इस प्रकार उत्कल में चारों तरफ भगवान् की भक्ति का प्रचार-प्रसार करते हुए धीरे-धीरे चलते हुए अपने शिष्य मण्डली से घिरे हुए देवताओं के मध्य विराजमान वृहस्पति की तरह सुशोभित होते हुए रास्ते-रास्ते में अनेक प्रकार के शास्त्रीय प्रसंग सत्संग मण्डल की रचना करते हुए और जगह-जगह भगवन्नाम संकीर्तन मण्डल की स्थापना करते हुए साधु सेवा के समाज की स्थापना करते हुए श्रीरामेश्वर धाम आ गये । उस समय वहाँ शैवों और वैष्णवों में पारस्परिक विरोध चल रहा था फलतः संन्यासियों में द्वेषाग्नि प्रकट हो गयी थी जब अनेक प्रकार के चमत्कार समूह के प्रचारण पटु शिष्य रत्नों की मण्डल से मण्डित महा महिमा से समन्वित स्वामी जी जगह-जगह पर सत्संग मण्डली की स्थापना करते हुए अपने प्रभाव का विस्तार करते हुए अज्ञानियों को तारते हुए एवं हीन जाति के लोगों, श्वपच, हूण, यवनादि को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करते हुए महान् समारोह के साथ श्रीरामेश्वर मन्दिर के ऊपर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए आ रहे हैं यह बात कर्ण परम्परा से सुनकर सैकड़ों मिथ्या कल्पना करके सशंकित मन वाले विक्षिप्त चित्त वालों की तरह धन की रक्षा सुरक्षा के लिए विशेष चिन्तित द्वेष के कारण विलक्षण आकार वाले कलहमूर्ति अपकार के योग्य सामग्रियों को इकट्ठा करके श्रीरामेश्वर मन्दिर के सकल पुजारी एवं उनके परिवार के जघन्य लोग सब संगठित हो गये ।

उनके उस प्रकार के दुर्व्यवहारवर्द्धित दुर्वृत्त युक्त समाचार सुनकर अपने शिष्य बन्धुओं को भय से उद्विग्न एवं सन्त्रस्त देखकर उनको आश्वस्त करने की इच्छा से स्वामी जी ने उत्साहपूर्वक सभी को सम्बोधित करके अपने सिद्धान्त से विनिश्चित निर्णय और उनका तत्काल के कर्तव्य का स्मरण करते हुए "अपने-अपने कर्म में लगे रहने पर मनुष्य सफलता को प्राप्त कर लेता है" इस गीता के सिद्धान्त को समझाते हुए सबको उत्साहित कर दिया कुछ भी चिन्ता मत करो जो होना है वह तो होगा ही । कहा भी है कि जो नहीं होने वाला है वह तो होगा नहीं, और जो होना है वह टल नहीं सकता अतः भगवान् का स्मरण करते हुए भगवत्परायण होकर सब लोग अपने लक्ष्य को सफल करें । फल और अफल की कामना में न बहें । वीरों की तरह आगे पैर बढ़ाकर फिर पीछे न करें । भगवान् स्वयं ही सब कुछ आपके अनुकूल ही करेंगे, निर्भय होकर आगे बढ़ें इति ।

इस प्रकार अपने आचार्य के सन्देश को प्राप्त करके निर्भय होकर सभी सन्त महन्त लोग "भगवान् की स्मृति सभी विपत्तियों से मुक्त करने वाली है" इस वाक्य को याद करके भगवन्नाम संकीर्तन की ध्वनि करते हुए 'सकलभुवन में व्याप्त निरन्तर लोगों के मन में निवास करने वाले विकृत वेष जो पारस्परिक द्वेष विशेष था उसका समूल नाश करते हुए भगवद्भक्ति रस सिन्धु को समुद्वेलित करते हुए सकल मानवों के मानस पर विलसित अज्ञानरूपी अंधकार का नाशपूर्वक भगवन्नाम माहात्म्य का ज्ञान रूप ज्योति को उद्भासित करते हुए आगे-आगे बढ़ते हुए कलि के कल्मष को दूर करते हुए भक्ति रस रूपी समुद्र में विहार करते हुए और विद्वेषियों के द्वेषदुर्भावना को हरते हुए "श्रीराम जयराम जय जय राम" श्रीवैष्णव धर्म की जय हो, श्रीसीताराम जी की जय हो, जगद्गुरुस्वामी श्रीरामानन्दाचार्य भगवान् की जय हो । इस प्रकार उच्च स्वर से जयघोष करते और करवाते हुए उल्लास एवं हर्ष के साथ भक्तिपूर्वक नाचते गाते उछलते हुए सभी सन्त, महान्त, श्रीस्वामीजी को आगे करके श्रीरामेश्वर मन्दिर में पहुँचकर श्रद्धापूर्वक प्रत्येक सोपान को प्रणाम करते हुए चढ़ते हुए समारोह एवं उत्साह के साथ राजकीय ढंग से साक्षात् ज्ञान वैराग्य और भक्ति को सजीव उपस्थापित करते हुए श्रीरामेश्वर भगवान् की जय हो भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकार की जय हो भगवान् शंकर के हृदय भगवान् विष्णु हैं और भगवान् विष्णु के हृदय

भगवान् शंकर है जैसे शिवमय विष्णु हैं वैसे ही विष्णुमय भगवान् शिव है जैसे हम लोग शिव और विष्णु में अन्तर नहीं देखते हैं वैसे ही हम सब का कल्याण हो। ऐसी उच्च स्वर से घोषणा करते हुए जैसे ही मन्दिर के समीप पहुँचे उसी क्षण उन लोगों की अपूर्व भक्ति भावना श्रीराम और श्रीशंकर जी के प्रति अभेद भावना सुदृढ़ अनुराग को देखकर सबके सब स्तब्ध हो गये और पहले के सारे द्वेष भावना रूपी शूल को निकाल कर सरस स्नेहमय सुधा संपृक्त विशुद्ध सत्वमय भक्ति भावना को आगे करके श्रीरामेश्वरनाथ के पुजारी गण जो कुछ क्षण पहले दुर्भावना से अभिभूत होकर विरोध कर रहे थे वे ही इस समय सबसे आगे भक्ति और उल्लासपूर्वक पूजन सामग्री के संग्रह में संसक्त और नितान्त अनुरक्त की तरह मानो साक्षाद् भगवान् का दर्शन हो रहा है ऐसा मानते हुए उस समय की भक्ति तरङ्गिणी "स्वयं गंगाजी आ गयी है" ऐसी पुण्यतमा निज भाग्योदय का नये-नये अनुभव करते हुए आये हुए वैष्णवों और स्वामीजी के स्वागत के लिए संमोहन मन्त्र से खींचे हुए की तरह अद्‌भुत प्रभाव को देखकर आये हुए अभ्यागतों के स्वागत सम्मान निवास एवं भोजन प्रबन्धादि का अध्यक्षत्व स्वयं वहन करते हुए सभी अर्चक गण हर्षपूर्वक उत्कण्ठा के साथ सेवा में लग गये। अधिक सुखद निवास एवं भोजन की प्रशस्त सुव्यवस्था में जुट गये।

श्रीरामेश्वर महादेव के अर्चकगण जैसे ही स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी के समीप आकर प्रणाम करते हैं वैसे ही स्वामी जी के मधुर मुस्कान से सुशोभित मुखचन्द्र को देखकर परम मधुर एवं मनोहर शरीर की कान्ति को नेत्रों से देखकर सभी के मन में सहसा आकाशवाणी हो गई कि ये तो साक्षात् भगवान् श्रीराम ही हैं पुन: धर्म की स्थापना के लिए प्रकट हुए हैं। तत्पश्चात् उन लोगों ने स्वामी जी का खूब-खूब स्वागत सम्मान किया वहाँ नियम के अनुरूप स्वामी जी ने श्रीराम भक्ति की गंगा को प्रवाहित करते हुए पारस्परिक द्वेष का मूल शिव भक्त रामभक्तों की दुर्भावना रूप विरोध का जड़ से उन्मूलन करके आपस में स्नेह सद्‌भाव सौहार्द भावना से भावित अन्त:करण करके सभी राम भक्तों और शिव भक्तों को प्रेम सूत्र में बांध कर माला के मणियों की तरह परस्पर पृष्ठपोषक बनाकर तीन रात्रि तक वहाँ निवास करके पुन: वहाँ विजय नगर के लिए प्रस्थान किया।

वहाँ से क्रमशः धीरे-धीरे रास्ते पार करते हुए स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी बीच रास्ते में विश्व प्रसिद्ध जिनका वैभव प्रकट है ऐसे दिव्य श्री रामतेज: सम्पन्न श्री तिरुपति बालाजी का दर्शन और प्रणाम करके तथा स्तुति आदि के द्वारा उनकी आराधना करके और भक्तों को उपदेश देकर भक्तिश्रद्धा और उत्सव के दिव्य नगर ''विजयनगर'' पहुँच गये । स्वामी जी के आगमन का वृत्तान्त सुनकर श्रीविजयनगराधीश्वर भी परम श्रद्धा भक्ति भावभावना से भावित होकर महान् समारोह के साथ सामने आकर गाजे बाजे के साथ जय जय की ध्वनिपूर्वक स्वामीजी के स्वागत समारोह का उल्लास के साथ विस्तार किया । उस समय वे राजकीय सम्मान से सम्मानित होकर राजभवन में ही राजकीय उद्यान के मध्य उपवन में विशेषातिथियों के लिए निर्मित शोभाधाम अतिथिशाला में सम्मानित अतिथि् के रूप में विराजमान होकर राजोपचार विधि से पूजा को स्वीकार कर रहे थे ।

उसी समय महाराज़ विजयनगराधीश की पृथिवी तल पर देवांगनाओं की तरह सुन्दरी मृगनयनी एक कन्या थी । जन्म के समय से ही मूक थी बोल नहीं पाती थी ऐसी गौरांगी कन्या को देखकर राजा भी बड़ा खिन्न एवं दुःखी था । अपने मनोरथ की सिद्ध का उपयुक्त समय को उपस्थित जानकर स्वामी जी के विविधि चमत्कार चर्चित गुणों को सुनकर और सौभाग्य से हमारे ऊपर अनुग्रह करके घर पर ही पधारे हैं ऐसा सोचकर उस राजकुमारी को स्वामी जी के सम्मुख ले आकर उत्कण्ठा और भक्ति के साथ स्वामी जी के चरणों में प्रणाम करवाया । स्वामीजी ने उसके हृदय की बात समझकर उस कन्या से कहा बेटी ! राम कहो रमण कहो श्रीश कहो इति । उस समय स्वामी जी ने उसके वाग् व्यापार की अपार शक्ति को अवरुद्ध देखकर अकारण करुणामयी श्रीसरस्वती जी का स्मरण करते हुए अपने मन में भगवान् की कृपा कारक वाग् वैभव का प्रसारक श्रीमन्त्र राज का स्मरण किया । अखिल शक्ति को धारण करने वाले जो परमात्मा अपने तेज से हमारे अन्त:करण में प्रविष्ट होकर मेरी इस सोई वाणी को और दूसरे हाथ पैर श्रवणत्वगादि प्राणों को संजीवन प्रदान करता है ऐसे परम पुरुष भगवान् को नमस्कार हो । स्मरण करते ही करुणावरुणालय भगवान् श्रीराम की कृपा हो गई तत्काल ही वह सुन्दर मधुर वाणी से राम राम ऐसा बोलना शुरु कर दिया । उसके हृदय में बैखरी वाणी स्फुरित हो गई स्वामीजी की अलौकिक

सिद्धि को देख देखकर सभी बड़े प्रसन्न हुए और राज सभा के सभी सदस्य स्वामी जी के शिष्य हो गये ।

इस घटना से राजा तो यहाँ तक प्रभावित हो गया कि सोलह मनुष्यों के द्वारा ढोई जा रह स्वामी जी की पालकी में सबसे आगे लगकर स्वयं श्री पालकी ढोने लगा जैसा कि- भक्ति के समुद्रेक के अधीन होकर रत्नजटित पालकी को अपने कन्धे पर रखकर राज भवन से उद्यान में अतिथि शालां में लाया अपने सेवकों मन्त्रियों तथा पत्नी के साथ स्वामी जी का शिष्य हो गया और श्रद्धा भक्तिपूर्वक राजोपचार विधि से स्वामी जी का पूजन किया । तत्पश्चात् वह राजकुमारी बड़ी श्रद्धा के साथ स्वामी जी के चरणों की सेविका हो गयी श्रीसद्गुरुदेव भगवान् की कृपा से लोकोत्तर प्रतिभाशालिनी हो गयी । तथाहि- वह राजकन्या भी स्वामीजी की शिष्या और अत्यन्त विदुषी हो गयी अपने अतिशय सौन्दर्य और अनुकूल वचन विन्यास के द्वारा जगत् को मोहित करने वाली हो गयी, सुन्दर राजनीति, लोकरीति एवं साम्राज्य संचालन में दक्ष हो गयी, स्वामीजी के चरणों की सेवा का अलौकिक फल उसने प्राप्त किया । इस प्रकार विजयनगराधीश की राजकुमारी को सरस मधुरवाणी से समलंकृत करके विविध शास्त्रतत्वज्ञ परमविदुषी राजनीति निपुण परम भक्त बनाकर अपने आशीर्वाद से अभिनन्दित करके सकल राज परिवार विशेष करके महाराज को श्रीवैष्णव धर्म की दीक्षा एवं भक्तिशास्त्र की समीक्षा से गोब्राह्मण और विद्वानों की सेवा में सदा सर्वदा सावकाश लगे रहना । अखिल वैष्णवों में भगवद्भाव से ही व्यवहार करना इस प्रकार सदुपदेश को शिक्षा से समलंकृत करके साधु सन्तों की मण्डली से घिरे हुए स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी शिवकांची की ओर प्रस्थान किया ।

उस समय शिव काञ्ची में भी शैव और वैष्णवों में पारस्परिक द्वेषभाव बढ़ा हुआ था, शैव लोग हमेशा वैष्णवों की निन्दा करते थे और वैष्णव लोग भी शैवों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और जब अपनी शिष्य मण्डली से घिरे हुए प्रकाण्ड पण्डित सदा शिव और विष्णु को अखण्ड एक स्वरूप मानने वाले श्रीस्वामी जी शिवकाञ्ची में पहुँचे उस समय उनके दर्शन मात्र से ही अपने पराये आदि भेद भावना को छोड़कर समस्त भावुक शिवभक्तों ने भी अनुरागी सहचर सेवक की तरह सेवा करते हुए विविध स्वागत समाराधन साधनोपकरणों से स्वस्वरूपानुरूप ही स्वागत सम्मान किया ।

वहाँ जाकर स्वामीजी ने भगवान् साम्बसदाशिव का दर्शन-अर्चन स्तुति वन्दनादि क्रिया सम्पन्न करके अपन नित्य नैमित्तिक दैनिक क्रियाकलापों को सम्पन्न करके भगवान् के प्रसाद को पाकर के कुछ समय विश्राम करके ठीक समय पर सभा मण्डप में पहुँचकर शिव तत्त्व के ऊपर अपने प्रवचनामृत रूपी नदी का प्रवाहित किया-

'भगवान् शिव ही अद्वयतत्व है'' ''एक रुद्र ही परमतत्त्व है दूसरा नहीं'' इन श्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि परात्पर तत्व शिव ही हैं ऐसा प्रतिपादित है किन्तु वाणी और मन से अतीत शिव की आराधना कैसे हो ? इस नियम से वाणी और मन से जो परे हैं उसकी उपासना करें कैसे ? इसीलिए शिव जी का पुरुष रूप से सर्वरूप परमात्मा की उपासना की जाती है वैदिक विज्ञान के अनुसार अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ होती है आनन्दकला, विज्ञानकला, मनकला, प्राणकला, वाक्कला । इन पाँच कलाओं के अधिष्ठाता भगवान शिव हैं इसलिए शिवजी पंचानन हैं उनमें आनन्दमयरूप शंकर का नाम मृत्युञ्जय है वही रसरूप है यह आत्मा रस को पाकर के ही आनन्दित होता है ऐसा वेद कहता है अत: मूल तत्त्व रस है उसी की अपार शक्ति बल है'' उसकी परा शक्ति अनेक प्रकार से सुनी जाती है बल, शक्ति क्रिया ये तीनों पर्याय हैं । एवं रस और बल दो मूल तत्व हो गये उनमें रस तो आनन्द ही है वही मृत्युञ्जय है । और बल का तात्पर्य मृत्यु है अत: बल आनन्द को आवृत्त करता है । अत: उस आवरण कारक बल को आनन्द जीत लेता है इसीलिए आनन्दरस मृत्युञ्जय है अत: आनन्द कलात्मक भगवान् शंकर मृत्युञ्जय नाम से प्रसिद्ध एवं समुपास्य हैं ।

दूसरी कला विज्ञान कला है अत: विज्ञानमयी शंकर जी की मूर्ति है तान्त्रिकों के द्वारा सदा उपास्य है विज्ञान का अर्थ बुद्धि है उसका घन स्वरूप सूर्य मण्डल में रहता है सूर्य मण्डल का केन्द्र है सदा सर्वदा उत्तर ही रहता है इसलिए विज्ञान केन्द्र से दक्षिण की ओर बढ़ता और विज्ञान वर्णमाला में स्थित है इसलिए देववाणी की वर्णमाला हिन्दी देवनागरी आदि । उत्तर से दक्षिण की ओर चलती हैं इसी प्रकार विज्ञान स्वत: प्रकाशरूप होता है प्रकाश का वर्ण श्वेत होता है इसीलिए शंकर का स्वरूप भी श्वेत है । तीसरी कला मनोमयी है इसके अधिष्ठाता कामेश्वर शंकरजी है मन के काम प्रधान होने से काम का जनक होने से काम को मनोज कहा जाता है । ऋग्वेद में

भी कहा गया है- कि सृष्टि के पहले काम ही था मन के वीर्य से प्रथम काम प्रकट हुआ आदि । इसलिए मन का अधिष्ठाता कामेश्वर महादेव तन्त्र शास्त्र में प्रसिद्ध हैं पाँच प्रेतों के पर्यकं पर स्थित शक्ति सहित श्रीकामेश्वर भगवान् तान्त्रिकों के द्वारा उपासित होते हैं प्रेमास्पद एवं अनुरागमय मन होता है अनुराग का वर्ण लाल होता है इस लाल रंग की कामेश्वरजी की मूर्ति होती है ।

चौथी कला प्राणमयी है प्राण पशुपति वह नीललोहित रूप है अत: प्राणमय कलात्मक नीललोहित पशुपति की उपासना होती है आत्मा पशुपति है प्राण रूप से पोषण करके विकार रूप पशुओं को नियमित करता है वैदिक परिभाषा में प्राण दो प्रकार का होता है एक आग्नेय प्राण दूसरा सौम्य अत: अग्नि का स्वरूप लोहित, सोम का स्वरूप कृष्ण अत: नीललोहित भगवान् उभयस्वरूप है कहा भी है छान्दोग्य में- कि जो अग्नि का लाल रूप, जल का शुक्लरूप, और अन्न सोम का नील रूप । यहाँ अन्न शब्द से सोम का ग्रहण है सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद है अत: यह मूर्ति नीललोहित कुमार के रूप में प्रसिद्ध है अत: सभी के योग से पञ्चामक शिव मूर्ति सम्पन्न होती है मृत्युञ्जय, दक्षिणामूर्ति, कामेश्वर, पशुपति रूप दो मूर्ति आग्नेय प्राण और सौम्यप्राण ये पाँच प्रकार की शिव की मूर्ति है इनका ध्यान मुक्ता, पीत बादल मौक्तिक और जपाकुसुम के रंग के पाँच मुखों से समन्वित तीन दिव्य नेत्रों से सुशोभित चन्द्रमा जैसा भव्य मुख पूर्णचन्द्रमा के करोड़ों आभाओं से युक्त दिव्य त्रिशूल टंकण व्रज, नागेन्द्र घण्टा, अंकुश और भय को हरने वाले पाश से समलंकृत भुजाओं से समन्वित अमित कान्ति से युक्त उज्ज्वलाङ्ग भगवान् का भजन करता हूँ । इस प्रकार पंच मुख शंकर का एक मुख ऊपर के भाग में चार मुख चारों दिशाओं में है उनके नाम ऊर्ध्वमुख का ईशान, पश्चिम दिशा के मुख का सद्योजात, उत्तराभिमुख का वामदेव इस प्रकार विभिन्न नामों से पाँच मुखों की पूजा होती है ।

पांचवीं कला वाक्कला है वह वाङ्मयी शिव की मूर्ति भूतेश नाम से पूजी जाती है इस प्रकार अव्यय पुरुष परमात्मा शंकर का पंचकलात्मक पंचमुख भगवान् का स्वरूप है इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म रूप जो पंच कलाएँ हैं वे भी भगवान् शंकर में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सूर्यप्राणभूत सूर्यमण्डल मध्यस्थ अग्नि, सोम और सोमतत्व भी । ये सब भगवान् शंकर के इन्द्र सूर्य दक्षिण नेत्र, सोम चन्द्र वामनेत्र अग्नि ललाट में भुवों के मध्य स्थित नेत्र उसी प्रकार

भगवान् विष्णु हृदय और ब्रह्माजी पूरे शरीर में विद्यमान इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवान् शंकर ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रूप त्रिपुटीमय अभिन्न ही हैं और कार्य के समय पृथक्-पृथक् मानव शरीर में रहने से क्रियाकलाप के भिन्न होने से भिन्न प्रतीत होते हैं जैसे शरीर में नाभिदेश में विष्णु हृदय कमल में ब्रह्मा मस्तक में शिव विष्णु के कार्य को करते हैं जीवनदायिनी शक्ति का आदान करते हैं जैसे श्वास प्रश्वास के क्रम में इन्द्र अन्तर के विषाक्त वायु को बाहर निकालता है उसी क्षण विष्णु संजीवनी वायु को बाहर से भीतर ले जाते हैं जब तक शरीरस्थवायु बाहर नहीं निकलता है तब तक प्रीणन वायु यथा स्थान पर नहीं जाता है उस क्षण ब्रह्माजी शरीर के हृदयस्थ होकर जीवन को स्थिर करते हैं जैसे प्राण के उत्क्रमणकाल में मूर्छित विराजमान शिवजी प्राण को बाहर निकालते हैं अत: परस्पर विरुद्ध दिशा में नाभि और मस्तक में विष्णु और शिव का निवास और कार्य भी विरुद्ध ही प्राण धारण कराते हैं विष्णु और शिवजी उत्क्रमण कराते हैं इस प्रकार लोक व्यवहार में परस्पर विरुद्ध गुण धर्म दिखायी देता है इसी प्रकार चराचर जगत में विष्णु और शिव तथा ब्रह्मा की स्थिति है । अधिक क्या वृक्षादि में भी मूल देश में ब्रह्मा मध्य में विष्णु और ऊपर भाग में शिव की स्थिति है वहाँ रस संग्राहक ब्रह्माजी मूल से रस का ग्रहण करते हैं मध्यस्थ विष्णु सर्वत्र विभाग करते हैं अग्रिम भाग स्थित में शिवजी रस द्वारा नये-नये पल्लवों क्षत विरोहादि की उत्पत्ति करते हैं । इस प्रकार तीनों देवताओं में एकरूपता ही है कोई भेद नहीं है ।

इस प्रकार शंकर जी साक्षात् अव्यय पुरुष कलामय विग्रह एवं अक्षर पुरुष-अक्षरपुरुष कलामय स्वरूप और अक्षरपुरुष भी हैं क्षर पुरुष की भी पांच कलाएँ प्राणकला, आप्कला, वाक्कला, अन्नादकला, अन्नकला इन पाँच कलाओं में अग्निसोमात्मक जगत् यही विश्वस्वरूप अग्निसोममय है । यहाँ प्राण ऋषिरूप, पितृरूप और देवरूप से तीन प्रकार का है देवताओं में पृथिवी, अग्नि, वायु द्युलोकस्थ सूर्य । वहाँ वायु भी दो स्थानों में है एक तो अन्तरिक्ष में रुद्र के रूप में अग्नि प्रधान वायु उग्र उपद्रवात्मक और रोगजनक भी होता है और वह सूर्य मण्डल से भी ऊपर जन, तप लोकों में संचरण करता है परमेष्ठि मण्डलों में जन तप लोकों में संचरण करता है सोम प्रधान होने से जीवनदाता आनन्द सौख्य का साधन होने से पूर्ण शान्तिकारक है । इसी का दूसरा स्वरूप जल रसमय होने से जल का ही

दूसरा नाम अम्बा है यह नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है अम्बा के साथ साम्बशिव सदा कल्याणकारी होते हैं तब भगवान् का साम्बसदाशिव नाम हो जाता है अत: वायु मूर्ति शंकर के दो रूप हो गये एक रूद्र दूसरा साम्बसदाशिव इति ।

और भी प्राण का भी दो रूप आग्नेय प्राण और सोमप्राण । वाणी भी अग्नि प्रधान है अन्नाद अग्नि ही है और आग्नेय प्राण तो अग्नि है ही इति अग्नि रूप होने से । उसी प्रकार सौम्य प्राण सोमरूप अन्न सोम ही है जल भी सोम का उद्‌भूतरूप है अत: सोमात्मक ही क्षर पुरुष है उसकी सभी पांच कलाएँ अग्नि सोमात्मक हैं उन्हीं से विश्व की उत्पत्ति हुई है । अत: सम्पूर्ण विश्व ही अग्नि सोमात्मक है ऐसा कहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि सोम प्रधान वायु साम्बसदाशिव है और अग्नि प्रधान रूद्ररूप घोर शिव है । अन्तरिक्ष में स्थित वायुरूद्र है परमेष्ठि मण्डल में स्थित सोम रूप वायु साम्बसदाशिव है । एकादशरूद्र शरीर में भी दश प्राण और एक आत्मा मिलकर एकादशरूद्र हो गये इनके उत्क्रमण के समय शरीरस्थ इन्द्रियादि सब रोते हैं अत: प्राणों की रूद्रसंज्ञा । वे सब सात ऊपर शीर्ष भाग में दो नेत्र दो नासिका और दो कान एक मुख । दो नीचे के भाग में और एक नाभि । उनमें दश स्थानों में विद्यमान होने से प्राणों की दश संख्या है और एक आत्मा कुल एकादश रूद्र ।

सब में रूद्र हैं- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् ये आठ शिवमूर्ति हैं एवं पवमान, पावक और शुचि ये तीन घोर रूप रूद्र हैं उपद्रावक वायु विशेष अन्तरिक्ष में है ये सब कुल एकादश हो गये इनमें आठ की उपासना की जाती है और तीन को दूर रहने के लिए ही प्रार्थना की जाती है घोर रूप रूद्र ! आप सर्वदा हमारे कुटुम्ब की और हमारी रक्षा करें । आपका धनुष भी हम लोगों के लिए प्रत्यञ्चारहित रहे, और शल्य से शून्य बाण पर्वत से भी दूर ही रहे और शिव स्वरूप कल्याण करने वाले वायु रूप साम्ब सदाशिव स्वरूप सर्वदा यहाँ आकर हम लोगों का कल्याण करें ऐसा बार-बार प्रार्थना करते भगवान शिव और विष्णु एक ही परमतत्व रूप है इन दोनों में तत्वत: भेद नहीं है । यद्यपि मूर्ख अन्ध श्रद्धालु एवं सिद्धान्त तत्व से विमुख लोग परस्पर में कहते हैं-कि शंकर जी जीव हैं कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा शिव के अनुज हैं विष्णु जीव

विशेष है यह आपस की द्वेष भावना का परिणाम है यह धारणा सर्वथा निर्मूल अशास्त्रीय अज्ञानकल्पित और उपासकों के मूढ़ता का द्योतक है ।

वास्तव में दोनों में अणुमात्र भी भेद नहीं है एक ही परमतत्व में अवस्था के भेद से, काल के भेद से, कार्य के भेद से और व्यवहार के भेद से भेद कल्पित है । जैसे राजा में क्रीड़ा के अवसर पर विलासी राजा, शासनकाल में शासक, भयंकर कठोर दण्ड देने पर क्रूर निर्दयी दण्डधर, दान के समय महादानी, शयन के समय पर्यंकशायी गमन के समय गन्ता, गजारूढ़ अश्वारूढ़ रथारूढ़ आदि अनेक संज्ञा से विभूषित हो जाता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा पालन पोषण की व्याप्ति के समय सबमें व्याप्त होकर स्थिति के समय विष्णु अर्थात् व्यापक वही जब महा प्रलय के समय सभी को अपने भीतर छिपाकर सो जाते हैं तब संहार करने वाला शिव कहे जाते हैं और जब शिव कल्याण करते हैं तब शंकर कहे जाते हैं, सभी प्राणी जिसमें सोते हैं उसे शिव कहते हैं इत्यादि व्युत्पत्ति से उसी परमात्मा का नाम शिव भी है लय के बाद जो बचता है वह शेष उस शेष की शय्या पर सभी को अपने उदर में स्थापित करके सोते हैं अतः शेषशायी कहे जाते हैं वास्तव में वह परमात्मा क्रियाभेद से स्वेच्छा से भिन्न-भिन्न कर्म में प्रवृत्त होने से विष्णु व्यापक होने से, शिव सर्व का लय कारक होने से विभिन्न नाम से व्यवहृत होता है ।

"सर्वधर्मोपपत्तेश्च" इस वेदान्त सूत्र के अनुसार सभी धर्म, सभी कर्म और सभी नाम जिसके हो सकते हैं वही परमात्मा है । इस प्रकार विष्णु सहस्र नामों में अनिवर्ती, निवृत्तात्मा, संक्षेप्ता, क्षेमकृत्, शिव, रूद्र, वहु शिरा, बभ्रु, ईशान, प्राणद, प्राण, भूतकृद्, भूतभृद्, भाव, भूतात्मा, भूत भावन, स्वयम्भू, शम्भु आदित्य सर्व, शर्व, शिव और स्थाणु इत्यादि शिव के नाम हैं इसी प्रकार शिव सहस्र नाम में भी अनेकों भगवान् विष्णु के नाम हैं अतः सिद्ध होता है कि जो सदाशिव है वही महाविष्णु है । दोनों एक है केवल उपासकों की रूचि के अनुरूप भिन्न-भिन्न नाम से भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं जहाँ कहीं भेद प्रतीत होता है वहाँ व्यापार भेद अथवा कार्य भेद है जैसे आदान क्रिया का अधिष्ठाता भगवान् विष्णु उसी प्रकार उत्क्रान्ति क्रिया का अधिष्ठाता शिव है । जीवन शक्तिदाता शक्ति संचारक भगवान् विष्णु है एवं जीवनशक्ति के संहारक भगवान् शिव है अतः दोनों एक ही है केवल

कार्य भेद है अतएव किसी ने कहा है कि- हरि और हर के मध्य में केवल प्रत्ययज्ञान का भेद है प्रकृति तो धातु एक ही है हृञ्, हरणे धातु से जहाँ अप् प्रत्यय हुआ तो हर शब्द एवं इ प्रत्यय हुआ तो हरि शब्द दोनों जगह केवल प्रत्यय का भेद है इसलिए हरि और हर में भेद नहीं है दोनों की प्रकृति एक है प्रत्यय के भेद से दो भिन्न रूप दिखायी देता है कोई मूर्ख व्यक्ति ही बिना शास्त्र के हरि और हर में भेद की कल्पना करता है ।

ज्ञान मात्र के भेद से ही भेदवत् प्रतीत होता है वस्तुत भेद नहीं है । किञ्च उत्क्रमण का नेता इन्द्र है आदान के विष्णु हैं इन्द्र ईश और ईश्वर ये पर्याय हैं इस प्रकार विष्णु की स्थिति नाभि में, शिव की मूर्धा में, परस्पर सामने ही स्थिति है जैसे शरीर में नीचे, ऊपर की स्थिति सम्मुख ही होती है इसी प्रकार लोक में भी शिव काञ्ची कृष्णा नदी के एक तट है और वहीं कृष्णा के दूसरे तट पर सामने ही विष्णुकाञ्ची है । दोनों के मध्य कृष्णा नदी बह रही है जो सम्पूर्ण भेद दृष्टि अथवा दुर्भावना को खींचकर दूर ले जाती है और कहती है कि दोनों के मध्य में मैं एक ही रसरूपा रसधाम बहती हूँ अत: एकाकार होने पर ही रस की अनुभूति होती है यह बोधित करती है । और भी-मानवों के शरीरों में भी विष्णु नाभि में, शिव मूर्धा में दोनों मध्य हृदय में ब्रह्मा जी हैं अत: नाभि से समान वायु सभी अवयवों में समभाग रस वितरित करते हैं । हृदय से प्राणवायु संचरित होता है इन्द्र प्राणस्थ दूषित वायु को बाहर निकालता है नाभि में स्थित विष्णु सद्य: विशुद्ध संजीवनी वायु को ग्रहण करते हैं इति विष्णु और शिव प्राणों की रक्षा करते हैं जब उत्क्रमण का समय आता है तब मृत्यु होती है इस प्रकार जो ब्रह्मबोधक विष्णु की स्तुति करने वाली श्रुतियां हैं वे सभी शिव की स्तुति करने वाली हैं जैसे श्वेताश्वतरोपनिषद् में ।

जो सब प्राणियों में गूढ है सर्वव्यापी है, सर्वभूतों की अन्तरात्मा है कर्मों का अध्यक्ष है सर्वभूतों में निवास करता है सबका साक्षी है सबको जानने वाला है निर्गुण है वह देव एक ही है । जिससे परे कुछ नहीं है जिससे पूर्व कुछ नहीं था जिससे छोटा कुछ नहीं है जिससे बड़ा भी कोई नहीं है जो अकेला वृक्ष की तरह स्तब्ध होकर अन्तरिक्ष में स्थित है उसी पूर्ण पुरुषोत्तम से यह सब कुछ व्याप्त है । जो प्रत्येक योनियों में रहता है जिसमें सारा संसार विद्यमान है जो सबसे परे है उस ईश्वर वरद, देव और

सर्वथा स्तुत्य की स्तुति करके हम अत्यन्त शान्ति प्राप्त करते हैं । सभी मुख, शिर, ग्रीवा जिसके हैं जो सर्वभूतों के अन्तर्गुहा में शयन्न करते हैं जो सर्वव्यापी हैं वहीं सर्वगत शिव भगवान् हैं इत्यादि अनेक मन्त्र विष्णु और शिव की समानता के प्रतिपादक है । विष्णु के लिए जैसे नामों पूर्ण पुरुष पुरुषोत्तम, साक्षी चेता, केवल निर्गुण सर्वभूतान्तरात्मा का प्रयोग हुआ है वैसे ही शिवजी के नाम भी यहाँ ईशान, शिव, देव (महादेव) आदि । अत: एक ही परमात्मा की जैसे सात्विक कला विष्णु स्वरूप है वैसे ही उसी परमात्मा की तामसी कला शिव महेश्वर नाम से प्रसिद्ध है श्रीमद् भागवत में ५ स्कन्ध में-

नव वर्षों में भी भगवान् नारायण महापुरुष पुरुषों पर कृपा करने के लिए आत्म तत्त्व के व्यूह (चतुर्व्यूह) रूप से आज भी संन्निहित है । भगवान् नारायण ही वहाँ शिव रूप से विराजमान हैं भगवान् की ही यह तुरीया तामसी कला है संकर्षण नाम से और शिव रूप से । किञ्च- स्वयं भगवान् ने कहा है कि मैं, ब्रह्मा और शिव ये तीनों जगत् के परम कारण हैं आत्मा, ईश्वर उपद्रष्टा और अविशेषेण दृक् हैं हे ब्राह्मण ! मैं अपनी गुणमयीं माया में समाविष्ट होकर विश्व की सृष्टि रक्षा एवं संहार के लिए तत्तत्क्रिया के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञा को धारण करता हूँ उस अनिर्देश्य केवल परमात्मा परब्रह्म में अज्ञ पुरुष ब्रह्मा शंकर और भूतों को भेद दृष्टि से देखता है, जैसे मनुष्य अपने शरीर के अवयवों शिर, हस्तादि में कभी भी पारक्य बुद्धि नहीं करता है वैसे मेरे परायण भक्त समस्त भूतों में भेद बुद्धि नहीं करते हैं । समस्त भूतों की आत्मा एक भाव स्वरूप ब्रह्मा विष्णु और शंकरजी में जो भेद बुद्धि नहीं करते हैं वे ही वास्तव शान्ति को प्राप्त होते हैं किञ्च- असंख्य रुद्रों में शंकरजी मैं ही हूँ इत्यादि से भी स्पष्ट प्रतिपादित होता है एवम् शरीर में भी पार्थिव शरीर में पृथिवी से भी बहिर्भाग से ही तत्काल प्राण वायु को ग्रहण करता है हृदय में ब्रह्माजी रक्षा करते हैं तद्रिक्त स्थान जिससे श्वास बाहर निकलता है जब तक वह श्वास पुन: उस स्थान को नहीं पाता है तब तक ब्रह्मा प्राण की रक्षा करते हैं विष्णु संजीवन वायु को बारह से तत्क्षण ही ले आते हैं शिवजी भी शिर पर रहकर प्राणों की रक्षा करते हैं नासिका के दोनों छिद्रों से ऊपर भाग में आते हुए प्राण को रोकता है आगे ब्रह्माण्ड तक नहीं जाने देते हैं शिवजी किन्तु प्राण के उत्क्रमण का जब समय आता है तब वही शिवजी आज्ञा दे देते हैं कि अब निकलो । अथवा योगी लोग जब हठ करके नासिका के छिद्रों को रोक करके

प्राण को ऊपर ले जाते हैं तब ब्रह्माण्ड में व्यग्रता होती है तब शिव की समाधि स्खलित होती है तब ब्रह्माण्ड का भेदन करके प्राण निकलते हैं तब ब्रह्माण्ड भेदन में शिवजी भी सहायता करते हैं । अस्तु विषयान्तर से अलम् ।

एवं लोक व्यवस्था से भी ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि स्वयम्भूमण्डल है जहाँ सोम प्राधान्येन विद्यमान है उससे नीचे परमेष्ठिमण्डल, भगवान् विष्णु का धाम मुक्ति स्थान यही गोलोक, नित्यसाकेतधाम है इधर ही गो किरणें प्रसृत होती हैं अत: गोलोक उसके नीचे सूर्यमण्डल स्वर्ग है यहाँ प्राणरूप से इन्द्र रहता है इसलिए देवताओं का राजा इन्द्र, सूर्यमण्डल ही स्वर्ग, सूर्यमण्डल से गोतत्व-रसतत्व, ज्योतिस्वरूप प्रकाश आयुतत्व इति तीन तत्व प्रसृत होते हैं ये तीनों तत्त्व पृथिवी में आते हैं वही सभी तरुलता वनस्पति औषधियों पशुओं पक्षियों और मानवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है उसके नीचे चन्द्र मण्डल भी है उसके नीचे हमारा पृथिवीमण्डल है यह लोक व्यवस्था है मण्डलों के मध्य में भी अन्तरिक्ष भाग है यही है चन्द्रलोक जहाँ विद्युत पुरुष मिलता है वही आगे परमेष्ठिमण्डल ले जाता है योगियों के प्राण उत्क्रमण के बाद जीवों को वहीं क्षीरसागर भी है सूर्य और पृथिवी के मध्य में भी अन्तरिक्ष है जहाँ प्रत्यक्ष चन्द्रमा है, इन लोकों में सर्वदा यज्ञकार्य चलता रहता है यज्ञ का तात्पर्य आदान प्रदान है निरन्तर स्वयं भू मण्डल से परमेष्ठिमण्डल तक चन्द्रमा अक्षुण्ण धाराओं से सूर्यमण्डल में गिरता है उस सोम को स्वत: आहुति रूप से आते हुए सोम को चन्द्रमण्डल में तत: पृथिवी में वितरित करता है सोम के साथ ही गोतत्व आयुतत्व ज्योतिस्तत्व को भी सूर्य प्रसारित करता है यही यज्ञप्रक्रिया है यज्ञ साक्षात् भगवान् नारायण ही है ऐसा हमने सुना है इस कथन से यज्ञ विष्णु रूप है और यज्ञ से ही समस्त देवताओं और रुद्रों की उत्पत्ति हुई है अत: यज्ञात्मक विष्णु के हृदय में रुद्रादि सब देवता विद्यमान है ।

किञ्च- अग्नि प्रधान सूर्यमण्डल उग्ररूप होने से शिव है इन्द्र के प्राण स्वरूप होने से महेश्वर होने से सौरजगत् के अन्तर्गत यज्ञस्वरूप विष्णु के विद्यमान होने से शिव के हृदय में विष्णु की स्थिति हो गयी । इसी प्रकार सूर्यमण्डल का भी उत्पादक परमेष्ठि मण्डल है वह विष्णुस्वरूप है परमेष्ठिमण्डल के भीतर ही सूर्यमण्डल के विद्यमान होने से विष्णु के हृदय में पुन: शिवजी उसके आगे परमेष्ठिमण्डल भी स्वयम्भूमण्डल के अन्तर्गत है स्वयंभू भी आग्नेय है अग्निस्वरूप का नियन्ता महेश्वर ही है अत:

परमेष्ठिमण्डल के महेश्वर मण्डलान्तर्गत होने से पुनः विष्णु शिवजी के अंग से प्रकट हुए इस क्रम से परस्पर शिव हृदये विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव सिद्ध होते हैं-

अत एवोक्तम्- **''शिवस्य हृदयं विष्णु-र्विष्णोश्च हृदयं शिवः ।**
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः ॥''

इसीलिए कहा है कि शिव के हृदय विष्णु है और विष्णु के हृदय शिव हैं जैसे शिवमय विष्णु हैं वैसे ही विष्णुमय शिव हैं ।

इस प्रकार शिव तत्त्व का निरूपण सुनकर शिव की विष्णुरूपता और विष्णु की शिवरूपता और दोनों की एकाकारता सुनकर सभी शैव तभी से समस्त द्वेषभावना और अपनी अज्ञता का त्याग करके विज्ञान दृष्टि पाकर सभी मोहित एवं प्रभावित होकर सहसा जय जयकार की ध्वनि करते हुए कहने लगे भगवान् श्रीराम ही स्वामीजी के रूप में पुनः धरती पर प्रकट हुए हैं स्वामी जी की जय हो । उन समस्त शैवों की उस स्थिति को देखकर श्रीवैष्णव भी जो शिव से द्वेष करते थे वे भी निर्मल हृदय हो गये उनका भी 'शिव जीव हैं' यह अज्ञान नष्ट हो गया वे भी परमतत्त्व को शिवशंकर कल्याण मूर्ति के रूप में मानने लगे ।

फिर स्वामीजी उन सभी को सम्बोधित करके बोले जो शैव और वैष्णव अपनी अव्यभिचारिणी भक्ति का प्रदर्शन करते हुए यदि इस प्रकार का वैमनस्य करते हैं वे धूर्त एवं पाषण्डी हैं भावुकवेष में राक्षस ही हैं जानते हुए भी मूर्ख ही हैं । अव्यभिचारिणी भक्ति किसे कहते हैं इसको आप लोग सावधान होकर सुनें ।

अव्यभिचारिणी भक्ति का यही अभिप्राय है कि सर्वत्र जिस किसी स्वरूप में अपने इष्ट का दर्शन हो अर्थात् उन-उन अन्य स्वरूपों में देवताओं में देव प्रतिमाओं में अपने इष्टदेव का ही यह विग्रह है ऐसा मानकर प्रणाम करे यदि श्रद्धा न बने तो उस रूप से दर्शन देने की प्रार्थना करें और भावना से अपने इष्टदेव का ही यह स्वरूप है इसका सर्वात्मना व्यवहार करें न निन्दा करें न द्वेष करे इति शम् ॥

तिरपनवाँ परिच्छेद

इस प्रकार शिव कांची में शंकर जी के माहात्म्य का प्रतिपादन करके वहाँ से विष्णु कांची के लिए प्रस्थान की इच्छा से श्रीरंगनाथ धाम को देखने के समुत्सुक होते हुए शिष्य मण्डली से सुशोभित स्वामीजी मार्ग में परम पावनी कृष्णा नदी को जिनकी महिमा गंगा जैसी है उसको सामने प्राप्त देखकर प्रणाम करके उसके दिव्य जल को पान कर आचमन करके सन्ध्यातर्पण आदि नित्यकर्म को करके नौकाओं के द्वारा उसको पार करके परिक्रमा करके दूसरे तट पर विद्यमान विष्णु काञ्ची में प्रवेश किया । उस समय वहाँ जगद् गुरुस्वामी श्रीरामानुजाचार्य जी महाराज के शिष्य वर्ग विराजमान थे भगवान् विष्णु के अर्चकगण परस्पर द्वेष विशेष से कलुषित अन्त:करण वाले थे अत्यन्त विरोध प्रतिरोधादि ही करते हुए अपशब्दों का प्रयोग करते हुए चारों तरफ घूमते थे । दुर्भावना से भावित सकल व्यापार वाले वे सब दिग्दिगन्त व्याप्त विश्रुत प्रशस्त कीर्तिकल्पलता को सर्वत्र व्याप्त स्वामीजी के यशोगाथा को सुनकर वे सब नहीं चाहते थे कि स्वामी रामानन्दाचार्यजी वहाँ आकर भगवान् की सेवा दर्शन स्तवन-आराधनादि करें ।

अनेक योग्य शिष्यों से मण्डित शास्त्र चर्चा में अप्रतिहत गति वाले अत्यन्त योग्य विद्वानों के सभाओं में भी विजयी स्वामी रामानन्दाचार्यजी श्रीपति भगवान् नारायण का दर्शन स्तवन प्रणाम और स्तुति के द्वारा उन्हें प्रसन्न करने आ रहे हैं यह सुनकर वे सब बड़े क्रुद्ध हुए और उनको शाप देते हुए भयभीत होकर उनके मार्ग को रोकने के लिए प्रयत्न करने लगे । परन्तु वे नहीं जानते हैं कि भगवान् और उनके भक्तों के साथ कैसा ग्रन्थिबन्धन होता है और भगवान् और उनके भक्तों में आपस में कैसा प्रणय सम्बन्ध होता है दोनों का व्यवहार कैसा होता है ? सर्वथा भक्ति से शून्य केवल जीवनयापन करने वाले प्रेम के मार्ग को भला क्या जानें ? वे भक्ति रस के माधुर्य से सर्वथा वञ्चित थे । जैसे प्रेम से उल्लसित मन वाली कोई प्रियतमा प्रेष्ठ के प्रेक्षण की लालसा से जिसके नेत्र लालायित हैं जो विशेष उत्सुक है उसका प्रियतम यदि द्वार पर आकर दर्शन के लिए अवसर प्रदान

कर रहो हो वह जैसे एक क्षण के लिए भी अपने नेत्रों से अपने प्रिय का त्याग नहीं कर सकती है वैसे ही भक्त ही जिनके अत्यन्त प्रिय हैं ऐसे भगवान् सुशीलानन्दन स्वामीजी का त्याग कैसे कर सकते हैं । सर्वथा अनभिज्ञ कलुषित अन्त:करण वाले सर्वात्मना विवेक शून्य रागद्वेष के कारण सौहार्दरहित भयभीत तथा श्रीहीन वे सब आश्चर्यपूर्वक- स्वामीजी पुरी में प्रवेश कर चुके हैं यह सुनकर झटिति भगवान् के मन्दिर द्वार बन्द करने लगे मन्दिर के दोनों कपाट वज्र से कीलित की तरह अविचल होकर स्थित रहे बहुत प्रयास किया लेकिन दरवाजे को बन्द करने में सफल नहीं हुए ।

इस प्रकार वहाँ के पुजारी भगवान् के भक्तों की महिमा न जानने के कारण श्रीस्वामीजी के अनन्य भक्तित्व से सर्वथा अपरिचित स्वामी जी को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने हेतु यथाशक्ति बाधा उपस्थित करने का यत्न किया परन्तु वे नहीं जानते कि- स्वयं नारायण भगवान् ही अपने मुख कमल से सुव्रत सन्मधुप्रेष्ठ को पिलाने के लिए त्वरापूर्वक आदर से स्वामीजी को बुला रहे हैं अपने मुख चन्द्र की सुधा मरीचि निचय के ब्याज से अपने प्रियवर स्वामीजी का आलिंगन करने के लिए द्वार खोलकर बार-बार देख रहे हैं । भगवान् महाविष्णु स्वयं ही अपने मन्दिर के द्वार को खोलकर साक्षात् अपना दर्शन कराने के लिए स्नेहपूर्वक बुलाये हुए भक्त शिरोमणि परमहंस स्वामीजी को अपना आनन्द प्रदान करने के लिए जब अपने भक्त की प्रतीक्षा कर रहे हों तब कौन मानव उनके मन्दिर के द्वार को बन्द कर सकता है इस प्रकार के विचार-विमर्श से शून्य उन्होंने द्वार बन्द करने का प्रयत्न किया ।

कौन मूढमति भक्ति रहित जो ऐसा स्नेह के मार्ग को नहीं जानता है वह उस भगवत् प्रेम के द्वार को बन्द करने में सफल व्यापार होगा आनन्द रसानुभूति एवं वैभव की शेवधि जो हैं जो अपने भक्त का वीक्षण करना चाहते हैं ऐसे भक्त की महिमा को भाग्यहीन मनुष्य क्या जाने । ठीक ही है कि भगवान् की भक्ति के व्यापार से जो सर्वथा रहित है भगवान् के गुणगणों के प्रवचन के आनन्द रसास्वादन से जो वञ्चित हैं संसाररूपी सागर के महाजल में भ्रम से गिरे हुए है रागद्वेषादि घोरतर तरंगों के चपेटों से जिसके कपोल लाल हो गये हैं मात्सर्य के उन्माद के कारण महा सर्प के फुत्कार से जिसके नेत्र दूषित हो गये हैं वे भगवान् के अति प्रिय जिनका अन्त:करण

का
ऐसे
र्वथा
ारण
ो में
लगे
रहे
के
को
यत्न
मल
को
पने
देख
कर
णि
भक्त
कर
का
है
न्द
रना
है
णों
के
सके
से
रण

भगवान् से नित्य सम्पृक्त है जो नवधा भक्ति से युक्त हैं जो भगवान् की भक्ति और महिमा के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं ऐसे स्वामी जी को भक्ति रहस्य के उल्लासन प्रकाशन में जो पारंगत है विद्वद् वरेण्य हैं निखिल शास्त्र विवेचनाब्धि के मन्थन से समुद्भूत अनेक भक्ति भाव के उज्ज्वल रत्न राशियों से समलंकृत अनेक चमत्कार अनन्त माहात्म्य से युक्त सांसारिक महा मोहान्ध नेत्र वालों से सर्वथा अलक्षितस्वरूप वैभव वाले परम भागवत सुशिष्यों से घिरे हुए हैं ऐसे स्वामी जी जिसको उनके स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु ने बुलाया है ऐसे स्वामीजी के स्वरूप को भला वे लोग कैसे जान सकते हैं इसलिए जो सर्वथा अनभिज्ञ हैं वह भक्त और भगवान् के परस्पर प्रेम भावना प्रभाव अथवा स्नेहादि को कैसे देख सकता है जो सर्वथा प्रीति के बन्धन का उपभोग नहीं किया है । अपनी मूर्खता को भी वह नहीं पहचान सकता है इसलिए कुचेष्टा करता है दोनों प्रेमियों के पारस्परिक बढ़े हुए प्रेम सागर में व्याघात करने का यत्न करता है परन्तु महा महाप्रणय सागर के भंवर में पड़कर स्वयं ही दुखी होता है ।

भक्त और स्वामी के मध्य सुस्थिर निश्छल अद्भूत प्रेम में प्रीति के उद्रेक विवेक रूपी जल में हजारों तरंगें उठती रहती हैं उसमें कोई सामान्य मनुष्य विक्षेपप्लव फेंककर उसमें क्षोभ उत्पन्न करना चाहे तो उसमें व्याघात तो नहीं कर सकता परन्तु आत्म हत्या भी स्वयं कैसे करें ऐसी स्थिति हो जाती है । इस प्रकार अर्चकों के हर प्रकार के प्रयास करने पर भी भगवान् के मन्दिर का कपाट अपने स्थान से हिला नहीं । बार-बार अनेक उपाय करने पर भी जैसे भूसी का आघात व्यर्थ हो जाता है वैसे ही परिश्रम को व्यर्थ समझकर हताश होकर भगवान् के दर्शन देने की इच्छा को जानकर परवश अत्यन्त दुःखी पुजारीगण स्वामीजी की कोई अपूर्व आनुषंगिकी सिद्धि को समझकर उनके ऊपर भगवान् की कृपा मानकर मन्त्र औषधि से जिसका पराक्रम अवरुद्ध हो गया ऐसे सर्प की तरह स्वामीजी के शरण को ही अपना श्रेयस्कर मानता हुआ अपने अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना करता हुआ अपने स्त्री पुत्रों के साथ हाथ जोड़कर स्वामीजी के शरण में गये । अपने आचार और वैदिक मर्यादा के अनुरूप आचार्योचित सम्मानों से संगीत वाद्य, छत्र चँवर व्यजन आदि चिन्हों से युक्त सुन्दर पालकी द्वारा मंगलतूरी घोष के द्वारा नगर के भीतर से उल्लासपूर्वक जय जय ध्वनि प्रति ध्वनि करते हुए अपने

आचार्य विशेष की तरह सम्मान साधनों से शिष्यों के सहित स्वामीजी को उनके विश्राम स्थल से मन्दिर तक ले आये ।

वहाँ आकर भगवान् का दर्शन, वन्दन स्तवन और नमनादि यथाविधि सम्पन्न हो जाने पर वहीं मन्दिर प्रांगण में एक ओर उच्चासन पर श्रीस्वामीजी को बैठाकर मोक्ष की कामना वाले सभी श्रोताओं ने तद्वचनामृतपान के लिए उत्कण्ठित सभी की तरह बैठकर उपदेश के लिए प्रार्थना किया । स्वामी जी ने कहा- हे भागवत भावुक भक्तों ! यह हम लोगों का वैष्णव धर्म सनातन परम्परागत वैदिक धर्म है । सृष्टि के समय जीवों की जैसे उत्पत्ति होती है उनके साथ ही उनके सदाचारों, व्यवहारों, तदनुकूल लौकिक व्यावहारिक और शारीरिक नियमों की उत्पत्ति होती है सृष्टिकर्ता के द्वारा । सृष्टि तो कल्पानुसारी होती है इस नियम से किसी समय किसी कल्प में आदि शक्ति जगदम्बा से होती है, कभी शंकरजी से कभी गणेश जी से, सुनी जाती है क्योंकि सब ब्रह्मरूप हैं और ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है । वर्तमान कल्प में श्वेतवाराहकल्प में भगवान् परब्रह्म के "ब्रह्मा विष्णु और महेश" तीन स्वरूप होने से विष्णु से ही सृष्टि प्रवर्तित होती है ऐसा मानर वर्तमान सृष्टि वैष्णवी सृष्टि के रूप में व्यवहृत होती है । पुनः जब काल कर्म स्वभावादि की उत्पत्ति हुई प्रत्येक जीव में काल कर्म स्वभावादि के विभिन्न रूप से व्याप्त होने से प्रत्येक जीव अपने स्वभाव के अनुकूल ही व्यवहार और आचरण करता है परन्तु मूल में सब वैष्णव ही है और वैष्णव धर्म ही सर्वत्र फैला हुआ है वृहत् कार्य में । भगवान् सर्वसमर्थ होते हुए भी वृहत्काय है । उससे भिन्न सभी जो-जो धर्म मिलते हैं वे सब वैष्णव धर्म में ही समाविष्ट हैं तदनुरूप आकार और आचार वाले होते हैं इस धर्म का स्वभाव ही यह है कि अपने में सबका पोषण करता है न किसी को दूषित करता है न किसी का अपमान करता है न द्वेष करता है न भिन्नता प्रकट करता है यही इसकी महत्ता है इसका सिद्धान्त तो यही है कि जो अपने प्रतिकूल हो वह व्यवहार दूसरों के साथ न करें । अपनी आत्मा की तरह स्वेतर समस्त धर्मों को मानता है । जो वस्तु अपने प्रतिकूल हैं अथवा यह जिसको अपने अनुकूल नहीं मानता है उस वस्तु न स्वयं ग्रहण करता है और न दूसरों के लिए प्रयोग करता है जो अपने प्रतिकूल प्रतीत होता है उसे दूसरों के प्रतिकूल मानता है जैसे कोई अपने को गाली दे तो वह असहनीय हो जाता

है अपने लिए । उसी प्रकार दूसरों के लिए भी गाली असहनीय होगी ऐसा मानना चाहिए । इसी का दूसरा नाम भगवद् धर्म है भगवान् विष्णु ने प्रसारित किया है इसीलिए परमशान्ति तथा सौख्य का उत्पादक और निष्कण्टक होने से सर्वग्राह्य एवं सर्वमान्य है कहा भी है जहाँ हरि की पूजा होती है वह मार्ग निष्कण्टक है जो गोविन्द से रहित है वह कुमार्ग है उसमें हमेशा भय बना रहता है वैष्णव धर्म निर्भय है ।

जैसी आत्मीय भावना इस वैष्णव धर्म में है वैसी भावना दूसरे किसी भी धर्म में नहीं है जैसे कोई आपके ऊपर किसी शस्त्र से आघात करे जैसे तलवार से आपके कण्ठ पर आघात करे तो यह कर्म अपने को अच्छा नहीं लगता है वैसे ही यह कर्म दूसरे को भी अच्छा नहीं लगेगा ऐसा निश्चय करके किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए । कभी भी किसी भी स्थल में, काल में, व्यापार में, व्यवहार में, हिंसा में, किसी की भी, प्रवृत्ति न हो ऐसा दूसरे धर्मों में नहीं है । शाक्त और शैव धर्मों में बलिदान के बहाने से पशु हिंसा तो होती ही है । यज्ञादि में भी यज्ञीय हिंसा को हिंसा न माने क्योंकि वह देवताओं के लिए अधिकृत हैं एवं शाक्त धर्म में भी देवी जी को बलि दी जाती है भले मांस भक्षण स्वयं न करते हो । तथापि यज्ञनारायण जैसे याज्ञिकों के लिए यज्ञ कर्ताओं को स्वर्गादि अपूर्वफल प्रदान करते हैं वैसे ही यज्ञ में की गयी जो पशु हिंसा है उसका भी पापफल भोग निर्णीत ही है जितने पशु शरीर में रोयें होते हैं उतने वर्षों तक पाप के फल का भोग भी शास्त्रों में वर्णित है फिर भी पशु हिंसा करते हैं वैदिकी मानकर । यज्ञ जन्य अपूर्व रूप सुख विशेष की उपलब्धि जितने वर्षों तक होती है उसकी अपेक्षा पशु के रोम के बराबर वर्षों तक पापफल भोग थोड़ा है ऐसा मानकर उसका आचरण याज्ञिक लोग करते हैं किन्तु ये सब अपने स्वार्थ के लिए होता है अत: वैष्णव लोग इसका सर्वथा त्याग करते हैं । वैष्णव तो अपने सुख दु:ख के समान ही दूसरे के सुख दु:ख को मानता है अत: किसी भी जीव को दुखी नहीं करता है यही विशेषता है इस वैष्णव धर्म में । अत: हम लोगों का वैष्णव धर्म सर्वजन हितकारी, सबका प्रिय करने वाला और सबका कल्याण करने वाला है । किञ्च- जीव जब भगवान् की शरण में आता है उसी दिन से उसका सम्पूर्ण भार श्रुति स्मृति और पुराण से उपदिष्ट भगवान् के अधीन हो जाता है जीव स्वतन्त्र स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है जैसे अबोध बालक कुछ नहीं सोचता है हित अथवा अहित । किसी भी कर्म में

वह स्वच्छन्द अग्नि का भी स्पर्श एवं उसे हाथ में लेना चाहता है तब उसकी माता, पिता, अभिभावक अथवा संरक्षक तत्काल वहाँ जाकर उसको उस कर्म से दूर करते हैं और अग्नि से जलने से उसे बचाते हैं उसी प्रकार हमारे प्रभु भी हैं । हम लोगों ने जिसकी शरणागति स्वीकार किया है सर्वात्मभाव से । वही परमात्मा असत् सत् कर्म में प्रवृत्त हम लोगों की समय-समय पर रक्षा करते हैं पापाचरण से रोकते हैं अत: शरणागत जीव सर्वदा सर्वथा निर्भय होकर विचरण विहरण करता है अत: भगवान् में जिस जीव की जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही फल प्राप्त होता है कहा भी है-

मन्त्र, तीर्थ, द्विज (ब्राह्मण) देवता ज्योतिषी, वैद्य और गुरुजी के प्रति जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसको वैसा ही फल मिलता है । किञ्च- परमात्मा श्रद्धामय है जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वही हो जाता है । हम जैसे भगवान् का भजन करते हैं भगवान् भी वैसे ही हम लोगों का भजन करते हैं । जो लोग जैसे मुझे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ । इति भगवद् वाक्य अत: भगवान् वैष्णवों के भावना के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं इसीलिए सर्वतो भावेन निश्छल और सर्वाधिक स्नेह से भगवान् की उपासना करनी चाहिए । वैष्णव धर्म निष्कण्टक है धर्माचरण करने वाला वैष्णव कहीं भी दुखी नहीं रहता है और न ही किसी कष्ट का अनुभव करता है भगवान् की इच्छा ही उसकी इच्छा है भगवान् जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं ऐसी दृढ़ आस्था वाले सन्त महान्त भगवद् भक्त होते हैं ।

कहा भी है भागवत में- हे माधव ! जो आपके अपने निज जन हैं जिन्होंने आपके चरणों में अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है वे कभी भी उन ज्ञानाभिमानियों की भांति अपने साधन मार्ग से गिरते नहीं है प्रभो ! वे बड़े-बड़े विघ्न डालने वालों की सेना के सरदारों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं कोई भी विघ्न उनके मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकता क्योंकि उनके रक्षक आप जो हैं ।

इसके विरुद्ध जो भगवद् भक्ति से रहित है उनका अध: पतन ही होता है अत: भगवद् भक्त वैष्णव श्रेष्ठ है और श्रेष्ठतम है हमारा वैष्णव धर्म । वह कभी भी दुख से सम्भिन्न नहीं है निरतिशय सुख रूप ही है ।

चौवनवाँ परिच्छेद

उस समय विष्णु काञ्ची में भगवान् महाविष्णु को प्रणाम करके परिक्रमा करके सभी वैष्णवों को सन्तुष्ट करके श्रीस्वामी जी श्रीरंगनाथ धाम जाने के लिए अपने समस्त परिकरों साधु मण्डली से विभूषित होकर शुद्ध सदाचार वाले परम्परा से पवित्र अन्त: वाले निर्भीक आगम निगम से प्रकट भक्ति भावना के प्रचार प्रसार में निरत जगह-जगह पर सभा का आयोजन करके उपदेश देते हुए स्वामीजी श्रीरङ्ग पहुँचे।

उससे पहले ही उनके आगमन की सूचना पाकर वहाँ की जनता उनके दर्शन के लिए रास्ते में गलियों में चौराहे पर इकट्ठे हो गये। स्त्रियाँ भी अपने-अपने भवनों के द्वार पर खड़ी होकर खिल लाजा अक्षत और पुष्प हाथ में लेकर सुन्दर वस्त्र और अलंकार से विभूषित, स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिरेक से जिन्होंने कामदेव को भी मोहित कर रखा है स्वर्ग की देवताओं क़ी स्त्रियों की तरह शोभा दे रही थीं। पंक्तिबद्ध सुन्दर नितम्बों वाली जिनके कुच मण्डल चल रहे थे जिनके घुंघराले बाल चंचल हो रहे थे अलकापुर की सुन्दरियों की तरह पूरे नगर से इकट्ठी होकर शोभा दे रही थीं बाल, वृद्ध और युवक अपने-अपने परिवार के साथ श्रद्धानुसार फूलों की वर्षा कर रहे थे।

इस अभूतपूर्व सम्पूर्ण समारोह को देखकर विशेष ईर्ष्या से कलुषित अन्त:करण वाले विरुद्ध आचरण के प्रवर्तकों ने शिष्यों के साथ स्वामीजी को श्रीरंगनाथ मन्दिर में प्रवेश के लिए बार-बार अनेक प्रकार की आपत्ति उठाकर रोक दिया क्योंकि आपके साथ अनेक शिष्य हीन वर्ण के हैं केवल त्रिवर्ण का प्रवेश है दूर से दर्शन के लिए तो शूद्रों का भी अधिकार है किन्तु छोटी जाति के लोगों का मन्दिर में प्रवेश वर्जित है अकेले आप दर्शनार्थ अथवा अपने द्विजाति शिष्यों के साथ जा सकते हैं सबके साथ नहीं। कबीर रैदास सेनादि के साथ नहीं, प्राचीन परम्परानुसार ये प्रवेश के अयोग्य हैं वैदिक मर्यादा के विरुद्ध है।

उस समय स्वामीजी ने सभी के अन्त:करण के अभिप्राय को जानकर कहा कि- जीवों का कर्म शापादि के वश से भूमि में नाना योनियों

में जन्म होता है वास्तव में जीव तो भगवान् के अपने हैं अंश है उनका जन्म और मरण नहीं होता है भगवान् की सेवा के लिए सर्वथा शक्तिहीन, जीर्ण एवं शीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर भगवत्सेवा में प्रवृत्त होते हैं वहाँ उन लोकातीत परमहंस भगवत् स्वरूप भक्तों के लिए सांसारिक लौकिक महामोहमय नीच या उच्च वर्णमय, जनन मरणरूप, शोक मोह मान और अपमान का मूल जो महामाया है वह उनको उद्वेजित नहीं करती है ।

वे सांसारिक बन्धन में नहीं पड़ते हैं भगवान् के चरणारविन्द मकरन्द का सेवन करने वाले सर्वदा भक्ति से पुष्ट अनन्य शरण होकर दिव्य शरीर धारण करते रहते हैं चाहे जहाँ कहीं जन्म हो । ऐसा कहकर उन सभी वहाँ से सेवकों को उद्भासित करने के लिए अपने वास्तवस्वरूप को प्रकट किया और अपने से अभिन्न भगवन्निष्ठ विशिष्ट शिष्ट भागवत शिष्यों के भी वास्तव स्वरूप को प्रकट किया और मुस्कराते हुए कहा-

श्रीस्वामीजी- ठीक है आप लोग जैसा कहते हैं वैसे ही करेंगे हम लोग मन्दिर में प्रवेश नहीं करेंगे यहीं से खड़े होकर भगवान् का दर्शन करेंगे आप लोग सुखपूर्वक अपने-अपने सेवा व्यापार में लग जाइए भगवान् की सेवा में व्यवधान उपस्थित मत करिए सेवा का समय बीत रहा है आप चिन्ता न करें ऐसा कहकर उनको सन्तुष्ट करके वहीं द्वार पर उपस्थित भगवान् का ध्यान करने लगे ।

जब वे पुजारी लोग स्नान करके नियमानुरूप भगवान् का उत्थापनादि व्यापार में संनद्ध हुए तब वे देखते हैं कि- श्रीरंगनाथ भगवान् स्वयं अपने आसन पर स्वामीजी को बैठाकर स्नेह से आलिंगन कर रहे हैं उसी प्रकार चारों तरफ भगवान् की सेवा में द्वादश भागवत वहीं निज मन्दिर में भगवान् रंगनाथ की उपासना कर रहे हैं जैसे श्रीअनन्तानन्दाचार्य जी सनत्कुमार के रूप में, योगानन्द कपिलाचार्य के रूप में, पीपाजी मनुरूप में, कबीर जी प्रह्लाद जी के रूप में, भावानन्दजी जनक के रूप में, रविदासजी धर्मराज के रूप में, गालवानन्दजी शुकदेव जी के रूप में वहीं मन्दिर में विराजमान होकर हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं ।

इस प्रकार भगवान् के भक्तों की विचित्र महिमा को आश्चर्यपूर्वक देखकर समुन्मत्त स्तब्ध रुद्ध करबद्ध सन्नद्ध होकर भी कुछ बोल नहीं सके,

कछु कर नहीं सके । सभी अर्चकगण दर्शकगण और सेवक परिकरों ने इस अद्‌भुत चमत्कार को देखा । उस समय वे सभी विस्मय से विमूढचेता होकर पुनः स्वस्थ चित्त होकर सहसा आकर मन्दिर के बाहर खड़े शिष्यों के सहित स्वामीजी का चरण पकड़कर बार-बार दण्डवत् प्रणाम करके प्रार्थना किया कि भगवन् ! आप तो साक्षात् मन्दिर में विराजमान है हम सभी के उद्धार के लिए ही बाहर पृथक् शरीर से विद्यमान है आप पूज्य चरण यहाँ पधारें भगवान् और उनके भक्तों की महिमा हम लोग नहीं जानते हैं और भगवान की विचित्र लीला को भी नहीं जानते हैं । आप जैसे महात्मा तो क्षमाशील होते हैं अतः क्षमा करके मन्दिर के भीतर पधारें आप तो सर्व समर्थ हैं अधिक क्या निवेदन करें वैदिक परम्परा और लौकिक परम्परा और दोनों की दैनन्दिन परम्परा जैसे सुरक्षित हो वैसा ही करें । ऐसा निवेदन करके श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रेम से स्वामीजी का अर्चन किया उनके शिष्यों के साथ और जय जयकार की ध्वनि किया बोलो स्वामीजी महाराज की जय ।

उसके बाद स्वामीजी ने उन सभी को सन्तुष्ट करके करुणा सिन्धु अनाथों के बन्धु श्रीरंगनाथ जी का अर्चन प्रार्थना प्रणाम और परिक्रमा करके सभी शिष्यों के साथ मैसूर के लिए प्रस्थान किया । बीच में रास्ते में एक जगह कुछ भगवद् भक्त सन्तों महात्माओं के सत्संग के प्रेमी हीन वर्ण के होते हुए भी परम उज्ज्वल, अस्पृश्य होते हुए भी सुस्पृश्य भगवच्चरणानुरागी संसार में आसक्त होते हुए भी कामभोगादि से भी परम विरक्त कथा प्रवचनादि श्रवण में अनुरक्त तत्काल सामने आकर उपदेश सुनाने हेतु प्रार्थना किया ।

उनकी प्रार्थना को सुनकर स्वामीजी ने सहर्ष उनको अपने स्वरूप के अनुरूप उचित स्थान पर मर्यादापूर्वक बैठाकर प्रेमपूर्वक धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया और आज्ञा दिया कि माया मोहपारावार दुस्तर इस संसार में सभी अपने-अपने कर्म क्षेत्र में व्यस्त प्रशस्त होते हुए भी निरस्त की तरह अनेक प्रकार के आधि व्याधि से पीड़ित अतिशय से रहित सुख की कामना करते हुए उसके लिए प्रयास करते हुए मान अपमान की चिन्ता न करते हुए अज्ञानी की तरह चारों तरफ घूमते हुए उसकी प्राप्ति के लिए इधर उधर दौड़ते हुए ही दिखायी देते हैं ऐसा एक भी आदमी नहीं है जिसको निरन्तर रोग से आक्रान्त होता हुआ भी मरने की इच्छा करता हुआ भी क्षणमात्र भी

किसी तरह सुख का अनुभव किसी कर्म से हो । सैकड़ों आशाओं से व्याकुलचित्त बिल्कुल न चिन्तन करे । उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिदिन हर प्रकार प्रयत्न करता है क्योंकि संसार में जितनी प्रवृत्ति चल रही हैं उन सबका मूल सुखाशा ही है । कोई निर्धन धन चाहता है तो कोई रोगी रोग से मुक्ति । एक सन्तान की इच्छा करता है प्रयत्न करता है । स्त्री कामुक पुरुष कुत्ते की तरह कुत्तिया के पीछे जाता है । तात्पर्य यही है मुझे सुख मिले कहीं भी कभी दुख न हो, निरतिशय सुख का ही अनुभव करूँ । किन्तु होता हमेशा विपरीत ही है । जैसे-जैसे सुख की इच्छा से आगे-आगे दौड़ते हैं वैसे ही अधिकाधिक दुखदावाग्नि से दग्ध होकर दुखी हो जाते हैं इसका कारण यही है कि मानव जो सुख चाहता है जो लक्ष्य करता है वह वास्तव में सुख नहीं है वह तो प्राय दुख ही है क्षणिक होने से क्षण भर के लिए सुखाभास मात्र है सारे लौकिक सुख क्षणिक उपभोग के बाद नष्ट होने वाले हैं क्षणिक होने से दुखान्त है मृगमरीचिका की तरह मनोमोहक है ।

वास्तविक सुख तो बहुत दूर है वह तो अत्यन्त दुर्लभ है ।

उक्तञ्च:- **''यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।**

अभिलाषोपनीतञ्च, तत्सुखम्'' (स्वः पदास्पदम्) ॥

कहा भी है जो न दुख से सम्भिन्न है न बाद में दुख से ग्रस्त है अभिलाषा का विषय है और उपनीत है वह सुख स्वर्ग कहा जाता है । स्वर्ग लोक की प्राप्ति रूप सुख भी सुख रूप एवं शान्तिप्रद नहीं है, वह भी दुखमय ही है क्योंकि पारस्परिक स्पर्द्धा असूयादि दु:ख से सम्भिन्न होने से शान्तिप्रद नहीं है हर क्षण उद्वेजक है शत्रुओं के द्वारा अपहरणादि हजारों शंकाओं से संकुलित है अतः सत्य सुख तो वही है जिसके प्राप्ति के बाद निरन्तर अविच्छिन्न रूप से सुस्थिर एवं अविनाशी हो कभी भी दुख से सम्भिन्न न हो आदि मध्य और अन्त में भी दुख के संस्पर्श से शून्य हो सर्वदा रहे जिसको प्राप्त करके मनुष्य सर्वदा आनन्द सिन्धु में सम्मग्न होकर विलास करे ।

ऐसा सुख तो आत्म सुख ही है जो मनुष्य अपने आत्मा में विद्यमान सुख को भी कस्तूरी मृग की तरह अपने आत्मा के गन्ध से मन वाला दूसरी जगह उसी गन्ध को पाने के लिए इधर-उधर दौड़ता है अपने अज्ञान के

कारण लेकिन उसको वह पाता नहीं है भ्रान्त होने के कारण । उसी प्रकार मानव भी पाने में समर्थ होने पर भी अपने अज्ञान के विजृम्भण से विलुप्त यथार्थ वस्तुतत्व होने से उसको नहीं प्राप्त कर पाता है । सभी साधनों से सम्पन्न होने पर भी उसके ज्ञान से विमुख होने के कारण दुख का ही अनुभव करता है जैसे समीप में स्थित मधुर सुशीतल गंगा जल से भरा घड़ा के विद्यमान होने पर भी उसके ज्ञान से रहित प्यास से पीड़ित बेचारा बैठा है ज्ञान न होने से । वही स्थिति जीवों की है भगवान् की कृपा से रहित प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुकूल शोक मूल क्षणिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसकी प्राप्ति का प्रयास करता है वही नाश्य विनश्वर दुःख सम्भिन्न घोरतर श्रम से साध्य दुख को अपना सर्वस्व मानकर अपने प्रयत्न से प्राप्त करना चाहता है ।

भगवान् ने गीता में कहा भी है कि तीनों वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित पुरुष मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्ग लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं । वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आते हैं ।। (गीता ९.२०-२१)

इस प्रकार जितना पुण्य उतना ही सुख पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनः दुःख पाता है सुख सर्वथा ही अनित्य है भोग से नष्ट होने वाला है विनाशी होता है । वह सुख अक्षय्य नहीं होता है यदि अक्षय्य् सुख चाहते हैं तो भगवान् की शरण में आओ वहीं अक्षय्य सुख मिलेगा यह सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है जन्य होकर भी अजन्य नित्य और शाश्वत है भगवान् के अधीन होने से । भगवान् के अधीन भक्त का कहीं भी नाश नहीं होता है । भगवान् कहते हैं हे कुन्ती नन्दन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता है । क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री वैश्य, शुद्र तथा पाप योनि चाण्डालादि जो कोई भी हों वे भी मेरी शरण होकर परम गति को ही प्राप्त होते हैं । (गीता ९.३१-३२) क्योंकि भगवान् उनके संरक्षक है उनको वैसा

बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं कहा भी गीता में- उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धि योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं । उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए अन्त:करण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञान जनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्वज्ञान रूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

भगवान् स्वयं ही अपने भक्त के कायिक मानसिक और वाचनिकादि सभी प्रकार के पापों का नाश करके उसको निर्भय बनाकर नित्यानन्द सुख समुद्र में डूबो देते हैं अत: मानव जीवन का इतना ही ध्येय है कि हर प्रकार से भगवान् की शरण में आ जाय उससे जीव सभी दुखों से निवृत्त होकर सर्वदा आनन्द का ही अनुभव करता है उसके लिए कोई कर्म का बन्धन नहीं होता है और नहीं संसार होता है और न ही वह फिर संसार के जन्म मरणादि के चक्र में आता है वहाँ तो केवल भगवान् के नित्य सुख की अनुभूति होती है अत: जैसे कैसे भी भगवान् में ही मन लगाना चाहिए सर्वात्म भाव से भगवान् की ही सेवा करनी चाहिए कहा भी है कि मुझमें ही मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा (गीता १२९) और भी- मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है । विशेष रूप से पुन: भगवान् ने कृपा करके कहा है- सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर अत: भगवान् की शरणागति ही परम साधन है असमर्थ जीव के लिए अकिंचन जन प्रिय भगवान् ही सर्वात्मना ध्येय ज्ञेय एवं आराध्य हैं भगवान् ही परम पुरुषार्थ का फल है उनकी शरणागति ही तत्प्राप्ति का साधन है ।

यदि शंका हो कि भगवान् में मन कैसे लगायें तो भगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! अभ्यास रूप योग द्वारा मुझको प्राप्त करने की इच्छा कर । और यदि अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा और यदि मेरे प्राप्ति रूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है तो मन बुद्धि आदि पर विजय

प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर दे इस परम सुगम सुसाध्य उपाय का उपदेश अकारण करुणावलय ने किया । इससे परे क्या शेष है ? भगवान् ने गीता के बारहवें अध्याय में श्लोक २ से २० तक शरणागति के साधत्तों का ही सम्यक् वर्णन किया है । यह भगवान् की कृपा ही है यहीं भगवान् ने संकेत किया कि जो भक्तिमान् है वह मुझे प्रिय है अब प्रश्न है कि भक्ति कैसे करें ? मनुष्य के किस कर्म व्यापार से भक्ति सिद्ध होती है ? उसके लिए शास्त्रों में साधनों का निर्देश है जैसे- अपने धर्म का आचरण करते हुए निष्काम कर्म करने से, हिंसा रहित प्रशंसनीय कर्मों की उपासना से, निरन्तर भगवान् के मन्दिरादि में ठाकुर जी का दर्शन वन्दन, स्तवन और अर्चनादि से, सभी प्राणियों में भगवद् बुद्धि करने से, मिथ्या छल छिद्र का त्याग करते हुए आसक्ति अनुरक्ति से रहित कर्म करने से, सकल व्यवहार के साधन से, सन्तों, महात्माओं, विद्वानों की सम्मानपूर्वक सेवा करने से । दुखी प्राणियों पर दया करने से, अपने समानवय और गुण वालों के प्रति मैत्री भावना करने से, यम नियमादि का समाराधन करने से, वेदान्त वाक्यों के अर्थानुसन्धानपूर्वक शास्त्र पुराणादि वचनों में विश्वास और श्रद्धा से सर्वदा साधु सन्तों के सत्संग से अहन्ता ममता स्वाभिमानादि दोषों से रहित सरलता से, सर्वात्मना भगवद् धर्मों की अभिलाषा से, परिशुद्ध अन्तःकरण होकर भगवान् के गुणों का श्रवण मनन संकीर्तनादि के द्वारा सर्वात्मभाव से भगवान् के अधीन होकर भगवत् सेवा परायण होकर अपनी आत्मा की तरह अपने परमात्मा की सेवा यदि करें तो अवश्य उनकी भक्ति प्राप्त हो जायेगी । सर्वदा सर्वभाव से ऋतु कालादि के अनुसार अपने आत्मा को सुख साधन उपार्जनादि की अपेक्षा जैसे होती है वैसे ही भगवान् के लिए समझना चाहिए यही सेवा है यही भक्ति है । वैसे ही जीव संसार अथवा प्रबल माया को पार कर सकता है अन्यथा नहीं । भगवान् के भक्तों में कोई भी अन्तराय अथवा लौकिक व्यवहार बाधक नहीं हो सकता है अधिक क्या अपनी-अपनी मर्यादा में भगवान् की सेवा करने के सब अधिकारी है अन्त्यज म्लेच्छादि भी । जब तक वे भगवान् की भक्ति में समाविष्ट नहीं हुए तब तक वे लौकिक जन्म के अनुरूप व्यवहार के योग्य हैं । भगवान् के प्रति अनन्य भाव हो जाने पर तो वे भी सिद्ध और लोकोत्तर हो जाते हैं परमार्थ दशा में तो सम्मान्य है और भगवदीय लोगों में परिगणित है उनका भगवान् की भक्ति में अलौकिक रूप होने से । किन्तु व्यवहार काल में

यथा स्वभाव होता है जैसा भाव होता है अपने स्वभाव के अनुसार यदि उनके साथ व्यवहार करते हैं वे सांसारिक प्रवाह में बहने वाले लोगों से विहित व्यवहार को दूषित मानते हैं अहं भाव से रहित होने से । यदि वे भी उस प्रकार के व्यवहार से खिन्न और उद्वेजित हों तब वे भी अपने लक्ष्य से च्युत अथवा स्वसिद्धान्त से सरलता से समाराधित भगवदीयत्व से विरहित होते हैं । अत: वे उस प्रकार के व्यवहार से डरते नहीं है और न ही उद्विग्न और खिन्न होते हैं भगवान् की भक्ति में और भक्ति सिद्धान्त में उनका भागवत के रूप में ही सर्वदा सम्मान रहा है स्वयं भी भगवान् की सेवा कर सकते हैं अलौकिक भक्ति मार्ग में । लौकिक में लोक व्यवहार के अनुसार मानवों की प्रवृत्ति और व्यवहार है किन्तु भक्त समाज में तो उनका तदनुरूप ही महिमा है जैसे रविदासजी आदि की ।

जो मन्दिरादि में अन्त्यजों का प्रवेश न हो यह लोक में मर्यादा पालकों का सदा आग्रह रहा है वहाँ कारण यही है सर्वदा भक्ति तो सबके लिए समान ही है भगवान् भी उसी प्रकार किसी को कभी भी नहीं रोक सकते हैं किन्तु मन्दिर तो व्यक्तिगत रूप से बनाये जाते हैं जैसे अपना निवास भवन लोग अपने-अपने उपभोग के लिए बनाते हैं उसी प्रकार अपनी-अपनी उपासना के लिए विशेष स्थान या मन्दिर का निर्माण करते हैं अत: वे सब स्थान अपनी इच्छा से प्रवेश के योग्य अथवा अयोग्य होते हैं वहाँ सब लोग मनमानी नहीं प्रवेश कर सकते हैं क्योंकि वह सार्वजनिक स्थान नहीं है उसका उपयोग तो उनके मत को मानने वाले कुछ लोग ही कर सकते हैं । दूर से मर्यादानुरूप नियमानुसार सभी दर्शन कर सकते हैं इसलिए उसको व्यक्तिगत, जाति सम्मत, समाजगत अथवा जातिगत ही कहते हैं उस समाज के लोग ही वे भी सीमित आज्ञा पाकर ही प्रवेश के योग्य होते हैं उनका अपने-अपने धार्मिक मर्यादा नियमानुसार और निर्धारित नियम के अनुकूल ही सकल व्यवहार होता है अत: ऐसे मन्दिर अभिभावक के इच्छा के अधीन होते हैं । अत: वहाँ दूसरी शंका नहीं करनी चाहिए । भगवान् की सेवा में भी स्व स्व सम्प्रदाय के अनुसार व्यवस्था होती है कुछ लोग साक्षात् ठाकुरजी का स्पर्श करते हैं जब वे नियम के अनुरूप पवित्र होते हैं तब । कुछ लोग अपने मन्दिर के द्वार पर्यन्त ही जा सकते हैं आगे नहीं । दूसरे लोग निर्धारित स्थान तक ही जाने के अधिकारी होते हैं उसके आगे नहीं जा

सकते हैं इस प्रकार जिसका जितना अधिकार है वह उतना कर सकता है यहाँ सम अथवा विषम भावना नहीं है न ऐसी बुद्धि करनी चाहिए । क्योंकि हमारे पूर्वाचार्यों महर्षियों, आचारसंहिता के निर्माताओं, धर्म गुरुओं, लोक वेद व्यवहार काल कर्म स्वभाव देश काल और परम्परा के जानने वालों ने, अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों ने सन्तों महात्माओं, परम आप्त पुरुषों, भक्ति प्रवर भागवतों ने शास्त्रों में जैसा लिखा है और उन महापुरुषों ने जैसा अनुभव किया है वैसा ही लिखा है जैसा देखा है जैसा व्यवस्थापित किया है जैसा आचरण किया है वैसा ही उसका सम्मान एवं व्यवहार होना चाहिए । यहाँ कुतर्क एवं तर्कवाद नहीं होना चाहिए । जैसे शास्त्रों में कहा है-

मन्दिर में गर्भगृह में केवल पुजारी ही जा सकता है और कोई नहीं । अर्द्धमण्डप भाग पर्यन्त वेदाध्येता वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मण जा सकता है । संन्यासी तथा वैष्णवों को महामण्डप स्थल तक जाना चाहिए । वैश्य शूद्र और अनुलोक जाति के लोग ब्रह्म मण्डप पर्यन्त जा सकते हैं प्रतिलोमज तो मन्दिर के बाहर गोपुरद्वार तक जाकर मन्दिर शिखर ध्वजा को देखकर पूर्णसेवा का फल प्राप्त कर सकता है । जो पुण्य साक्षात् ठाकुरजी के श्रीमद् अंग संस्पर्शपूर्वक भगवान् की सेवा से सेवक को प्राप्त होता है वही फल अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित रहकर तत्तत्स्थल पर्यन्त जाकर गोपुर से ही मन्दिर के ध्वजा शिखरादि के दर्शन मात्र से भी प्राप्त कर सकते हैं न कम न अधिक । शास्त्रोक्त मर्यादा का पालन करने से सद्भक्ति या सच्छ्रद्धा से अथवा परम्परा के आचार का पालन करने से वही फल प्राप्त होता है ।

कहा है- चाण्डाल, श्वपच पुल्कसादि प्रतिलोमज अथवा अन्त्यज लोगों को मन्दिर का स्तूप दर्शन करके पुण्य प्राप्त होता है । अन्त्यजों एवं अन्त्य लोगों के लिए मन्दिर के शिखर का दर्शन और मन्दिर के गोपुर का दर्शन भगवान् के दर्शन के तुल्य ही है । इसी प्रकार हे मुनिश्रेष्ठों ! अन्य सभी मनुष्यों के लिए मन्दिर का दर्शन और प्रणाम ही भगवान् की पूजा है ।

इस प्रकार शास्त्र वचनों के द्वारा सभी के अधिकार का निरूपण किया जाता है इसके अनुसार तो अन्त्यजों के लिए भगवान् के मन्दिर द्वार और उसके शिखरस्थ ध्वजा का दर्शन ही साक्षात् दर्शन के तुल्य फल और पुण्य देने वाला है उनका मन्दिर के भीतर प्रवेश का अधिकार नहीं है और न ही प्रवेश की आवश्यकता है ।

यच्च- **"हीनयोनौ यदा जातो ज्योतिर्लिङ्गञ्च पश्यति ।**

तस्य जन्म भवेत्तत्र विमले सत्कुले पुनः ॥"

म्लेच्छो वाऽप्यन्त्यजो वापि षण्ढो वाऽपि मुनीश्वराः ।

द्विजो भूत्वा लभेन्मुक्तिं तस्मात् तद् दर्शनञ्चरेत् ॥" इति

दूसरी बात- छोटी जाति में उत्पन्न होकर जो ज्योति र्लिङ्ग का दर्शन कर लेता है वह पुनः उत्तम कुल में जन्म पाता है । म्लेच्छ अथवा अन्त्यज अथवा नपुंसक जो भी ज्योति र्लिङ्ग का दर्शन कर लेता है हे मुनीश्वरो ! वह मरने के बाद ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है अतः ज्योति र्लिङ्ग महादेव का दर्शन करना चाहिए । इत्यादि वचनों से म्लेच्छ अन्त्यजादि के ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन का माहात्म्य सुना जाता है यह भी शास्त्रोक्तरीत्या अधिकारी के अनुसार ही मान्य है । शास्त्रों में सत् शूद्रों के लिए साक्षात् ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन से जैसे मुक्ति बताया वैसे ही असत् शूद्रों के लिए ज्योतिर्लिङ्ग मन्दिर द्वार के दर्शन से अथवा दूर से ही मन्दिर के शिखर के ऊपर उड़ती हुई ध्वजा के दर्शन मात्र से ही मुक्ति करतलगत हो जाती है शास्त्रीय प्रमाण से । जिन शास्त्रों ने दर्शन का विधान किया है वही तत्तद् अधिकारी का भी निरूपण किया है अतः उसका ही अनुकरण करना चाहिए सन्देह होने पर भगवान् गीता में कहते हैं कि कर्तव्य और अकर्तव्य में शास्त्र ही प्रमाण है उसी में लिखा है कि अन्त्यजों के लिए मन्दिर प्रवेश निषेध है अपितु उनके लिए तो मन्दिर के द्वार तक आना ही पर्याप्त एवं मुक्तिदायक है ।

यदि कहें कि शिखरस्थ ध्वजा के दर्शन से शिवलिंग दर्शन का फल कैसे मिलेगा ? इसमें क्या प्रमाण है ? तब स्कन्द पुराण में केदार खण्ड के बारहवें अध्याय में- त्रिशूलधारी देवाधिदेव महादेव का शिवालय ही लिङ्ग है ऐसा जानना चाहिए इस कथन से यह स्पष्ट है कि शिवालय या शिखर भी लिङ्ग स्वरूप है । म्लेच्छों अन्त्यजों और नपुंसकों के पृथक्-पृथक् नाम निर्देश होने से सदृश ही है । और जहाँ स्पृश्यास्पृश्य विवेचना के प्रसंग में बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि- विवाह, तीर्थ यात्रा, देश में कोई उपद्रव हो,

और भी- देव यात्रा रथयात्रा, विवाह, यज्ञ प्रकरण और सभी उत्सवों में स्पृश्यास्पृश्य दोष नहीं लगता है । इत्यादि आपत्तिकाल में विवशता के कारण

अथवा दूसरे किसी भी कारण से स्पर्श का विवेक दिखाया गया है इससे सर्वत्र मन्दिरादि में प्रवेश का कथन नहीं किया है जब भगवान् रथयात्रादि विशेष अवसर पर नगर प्रदक्षिणादि के अवसर पर कदाचित् बाहर उद्यानादि, जलाशयों रथयात्रादि विशेष देव उत्सवादि में बाहर आते हैं तब सभी के लिए यथा स्थान स्थित शूद्रों अन्त्यजों और म्लेच्छादि को भी साक्षात् दर्शन होता है वह भी दूर से ही । दूसरी बात लोगों की भीड़ में परस्पर स्पर्श होने से सेवक भी भगवान् की सेवा का अधिकारी होता है दूसरे समय तो किसी के छू जाने से सवस्त्र स्नान करके ही भगवान् की सेवा में जा सकता है ।

ये सब व्यवस्था तो व्यक्तिगत रूप से स्थापित भगवान् के मन्दिरों के लिए है जो सामाजिक संस्था नहीं है । भगवान् की भक्ति अथवा पूजन में यह व्यवस्था नहीं है । यदि अन्त्यजादि भी भक्त होकर उपासना के लिए अपने इष्टदेवता का मन्दिर बनवाते हैं तो वहाँ वे अपने द्वारा स्थापित भगवान् की प्रतिमा का अर्चनादि सकल कृत्य साक्षात् भगवान् की सेवा संस्पर्शादि शृंगारादि भी कर सकते हैं उसमें उनका पूर्ण अधिकार है उसमें भगवान् की सेवा में कोई दोष नहीं है जैसे शिव पुराण के कोटिरुद्र संहिता में किसी चाण्डाली की कथा का वर्णन है वह शिव की पूजा करती हुई स्वर्ग गयी और शिव लोक को भी प्राप्त किया एक चाण्डाली ने शिवजी की सम्यक् पूजा करके तत्काल शिव लोक चली गयी इति और भृगुसंहिता में चाण्डाल, अन्यज, प्रतिलोमज, म्लेच्छ, नीच चाण्डाल गुरुनिन्दक आदि के संस्पर्श होने पर पूजा काल में प्रवेश में बाधा होती है इससे स्पष्ट निषेध है बाधा शब्द से द्योतित हो रहा है ।

और जो शास्त्र विधि को छोड़कर यदि स्वेच्छा से व्यवहार करते हैं तो उसका दोनों ही नष्ट हो जायेगा अलौकिक और लौकिक भी । न तो पुण्य प्राप्त होगा न उसका फल और न मुक्ति गीता- जो पुरुष शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को और न सुख को ही । तात्पर्य यही है कि जहाँ व्यक्तिगत रूप से, जाति विशेष द्वारा, सम्प्रदाय विशेष रूप से वैदिक विधान के द्वारा वैदिक मन्त्रों के द्वारा भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा और मन्दिर की स्थापना हुई हो वहाँ वेदबोधित विधानों के द्वारा कर्तव्य निर्देश मर्यादा स्थापन द्वारा ही व्यवहार करना चाहिए थोड़ा भी उसके विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए ऐसा निर्देश होने से ऐसे मन्दिरों में म्लेच्छ,

अन्त्यज एवं हीनों का सर्वथा प्रवेश निषेध है अनधिकारी होने से । मन्दिरादि में प्रवेश के बिना ही मन्दिर शिखर एवं शिखरस्थ ध्वजादि के दर्शन से उन्हें पुरुषार्थ की सिद्धि, भगवान् की प्रीति, पुण्य प्राप्ति मुक्ति स्वयं प्राप्त हो जाती है ऐसा ही वेदशास्त्र से प्रतिपादित होने से अत: शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करके मन्दिरादि में प्रवेश का हठ करना ठीक नहीं है । यही सिद्धान्त है ।

क्योंकि शास्त्रों में जो प्रतिपादित है वह सनातन धर्म की व्यवस्था का परिपालन करने के लिए हर प्रकार से सर्वात्मभाव से सभी जाति वर्ण और समाज में उत्पन्न लोगों के लिए सौख्य शान्ति का सम्पादक निष्कण्टक मार्ग निर्दिष्ट है । वहाँ किसी शास्त्रकार का लेशमात्र भी पक्षपात अथवा दुराग्रह नहीं है और न किसी भी वर्ण से या समाज से मैत्री या द्वेष है । सभी के कल्याण के चिन्तक हितैषी, भूतभविष्य और वर्तमान को देखने वाले, प्रत्यक्ष मन्त्र द्रष्टा महर्षि ही शास्त्रकार हुए हैं उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही श्रेयस्कर है । क्या कर्म है क्या अकर्म है ? ऐसे विवेक से रहित अनेक कुतर्क तर्क से पराहत दृष्टि वाले, हित और अहित के ज्ञान से जो अन्धे हैं उनके लिए तो दिव्य नेत्र प्रकट किया शास्त्र के रूप में । शास्त्र में बताया गया मार्ग ही कल्याणकारी है । यही सर्वसम्मत और सर्वाभिमत निश्चित सिद्धान्त है ।

यद्यपि यहाँ एक शंका होती है कि- यदि शास्त्रों में चार वर्ण ही लिखे हैं तो म्लेच्छ अन्त्यज और हीनों का किस वर्ण में गणना है ? उत्तर है- अस्पृश्य वर्णों का चतुर्थ वर्ण शूद्रों में ही गणना है सत् शूद्र स्पृश्य हैं असत् शूद्र अस्पृश्य है शूद्र भी दो प्रकार के होते हैं ? १. निरवसित २. अनिरवसित ।।

जो निरवसित हैं वे असत् शूद्र हैं अस्पृश्य माने गये हैं । निरुक्तकार के मत में भी ''चार वर्ण हैं निषाद पाँचवां वर्ण है ऐसा उपमन्यु मानते हैं इस वाक्य में पंचम वर्ण की चर्चा मिलती है । यद्यपि निषादादि के भी वेद के अनधिकारी होने से यज्ञ यागादि करने की योग्यता न होने से निषादस्थपतिं याजयेत इत्यादि वचनों के द्वारा स्थपतित्वेन यागकरण की योग्यता का निरूपण किया है ऐसा मीमांसादि में विवेचित है यह सब वहीं से समझना चाहिए इस प्रकार पाँचवां वर्ण भी सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार अन्त्यजों की अर्वाचीन सृष्टि नहीं है सृष्टि के उद्‌गम के समय से ही है इसीलिए सृष्टि के आरम्भ में भगवान् के मुख से ब्राह्मण,

भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य, और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है उसके बाद शूद्रों में भी भिन्न-भिन्न कर्म होमे से अनेक भेद हो गये जैसे वेद में अनेक शाखा प्रशाखा स्वर उच्चारण के भेद से हो गये उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म के होने से शूद्रों में भी कई जाति हो गई । उन्हीं में निकृष्ट कर्म होने के कारण अस्पृश्य होने के कारण कुछ अन्त्यज हो गये इससे उन्हें अर्वाचीन नहीं समझना चाहिए वेद से बोधित होने से । और वेदों के भूत भविष्य और वर्तमान विषय का प्रतिपादक होने से सर्वज्ञत्वादि अलौकिक विषयों का प्रतिपादक वर्ण व्यवस्था आश्रम व्यवस्था तत्तकर्मप्रधानपरक होने से जाति व्यवस्था का निर्धारण होने से । परमात्मा के स्वरूप से ही सकल वर्णों की उत्पत्ति होने से पृथक-पृथक् व्यवहार के सिद्ध होने पर भी एकी भाव है अनादि है और अपूर्व सम्पादन का सामर्थ्य है । यह सब स्पष्ट नहीं है ।

जैसे अपने शरीर में भी तत्तत्काल कर्म गुण के भेद से अपने आत्मा में प्रत्येक मनुष्य में स्पृश्यास्पृश्यत्व होता ही है किन्तु कोई भी अपनी आत्मा में भेद नहीं करता है अपने शरीर में कोई भेद की कल्पना नहीं करता है ।

जब हम मल विसर्जन करते हैं उस समय अपने शरीर में अशुचित्व अस्पृश्यत्व उत्पन्न होता है उस अवस्था का पुरुष भोजनादि अथवा भजनादि पवित्र कार्य करने को तैयार नहीं होगा और न ही अपने अन्य वस्तुओं को स्वयं भी छूना चाहता है और न ही स्नान करके पवित्र होकर अपने पुत्र कलत्रादि वस्त्रादि का स्पर्श करता है इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था में भी परस्पर वर्णों में भी वैसा व्यवहार अथवा व्यापार दूष्य नहीं है और न ही उनके प्रति उच्च नीच की भावना अपने मन में लावे अधिक क्या- अपने शरीर में भी मुख में शिर में हाथ पांवादि में मूत्र और मल विसर्जक इन्द्रियों में भेद बुद्धि नहीं करते हैं और न ही दूसरे की भावना करते हैं । किन्तु व्यवहार वैषम्य तो प्रतिक्षण बढ़ रहा है गुदा के छू जाने पर हाथ को सात या दश बार मिट्टी और जल से धोते हैं तब भोजनादि या भोज्य पदार्थों को उस हाथ से छूते हैं उसी प्रकार सर्वत्र शूद्र अन्त्यजादि के प्रति जानना चाहिए ।

पचपनवाँ परिच्छेद

इस प्रकार स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी ने उन सभी को सन्तुष्ट करके अपने गन्तव्य नगर मैसूर के लिए प्रस्थान किया। उसके पहले आगमन का वृत्तान्त सुनकर हर्षोल्लास का पूर्णतया नगर में विकास हो गया। पूरे नगर में प्राचीन परम्परा परिलसित केले के खम्भे लग गये अशोक और आम के पल्लव का वन्दन वार लग गये। मालाओं के बीच में मोतियाँ गूंथकर पुष्पमालों से एवं विविध पुष्पों से तोरण द्वार सज गये नगर सारे चौराहे गलियों के सज जाने से नगर की विशेष शोभा चारों तरफ स्वर्ग के विलास सामग्री से अत्यन्त सुन्दर हो रहा था। प्रत्येक महल का मुख्य द्वार सैकड़ों मंगल कलशों से मण्डित था आंगन में बिखरे हुए अनेक रंग के सुगन्धित पुष्पों के सुगन्ध के संघर्ष से समुत्पन्न मञ्जुल परिमल से उल्लसित शीतल वायु के सुखद संस्पर्श से पुलकित रोमांचित मूर्तिमान् देवताओं की तरह इधर-उधर विचरण करते हुए सन्त, महात्मा, विद्वान् नगर निवासी सरस समालाप् के उल्लास नर और नारी दर्शन की उत्कण्ठा से सम्यक् शोभा दे रहे थे।

नगर का प्रत्येक कोना अस्त व्यस्त था ऐसे व्यस्त समस्त नगर में ऐसा एक भी महल नहीं था जहाँ सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुएँ उपस्थित न हों। एक भी ऐसी खिड़की नहीं दिखायी दिया जहाँ समूह में दौड़ती हुई नगर की स्त्रियाँ मैं पहले मैं पहले कहती हुई आपस में संघटन के कारण भीड़ में उत्पन्न परस्पर कटाक्षपात से जनित प्रेमकला की कलकल ध्वनि को करती हुई आगे आगे रेंगती हुई अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से राजमार्ग को उज्ज्वल करती सुन्दर सुलभ कुटिल कटाक्ष के पात से कामदेव के चित्त को उज्जृम्भित करने वाली न हो। ऐसी एक भी गली किसी ने नहीं देखी जहाँ चन्दन अगर तगर महासुगन्धित पदार्थ गुगुल कपूर कस्तूरी आदि के सुगन्ध से सुगन्धित और आनन्दित यातायात प्रेमी मानव समुदाय के दोनों नासिका छिद्रों में सन्तर्पणजन्य उल्लास न हो।

अधिक क्या कहें- सम्पूर्ण नगर मंगलमय की तरह, सम्पूर्ण बड़े-बड़े महल अटारियाँ देवलनाओं की तरह हजारों स्वर्गीय विलास और उल्लास से युक्त हैं अनेक रत्नराशि से समलंकृत विविध आभूषणों से परिमण्डित आंगतालिका अंगनाओं से युक्त था बाजार की सम्पूर्ण मण्डियां भी देवता समूहों के विलास के अनुंरूप अनेक प्रान्तों के दिव्यालंकारों से विभूषित वक्ष स्थल वाले मनुष्यों की भीड़ से युक्त हो गयी त्रिलोकी में प्रसारित स्वामीजी के दर्शन जन्य कुतूहल कमनीय केलि में कल्लोल करने वाले मन से युक्त भूर्भुवः स्वर्लोक नागलोक के निवासीजन परस्पर में सद्भाव स्थापित करके एक लक्ष्य लेकर स्वामीजी के दर्शन का मनोरथ वाले मनरूपी रथ पर आरूढ़ होकर प्ररुढानन्दरूपी सिन्धु में लीन चित्तवाले अपने भीतर के सभी अन्तराय को हटाकर सहृदय होकर मित्रों की तरह प्रेम करते हुए प्रेम के भावी नाश के भय से अधीर होते हुए अपने आचार्य के दर्शन के बहाने महामहोत्सव का आयोजन करते हुए सब इकट्ठे हो गये । उस समय नगर में अणुमात्र भी भूमि ऐसी नहीं थी जहाँ सज्जनों का आना जाना न हो रहा हो ।

एक भी महल ऐसा नहीं था जो युवति जनों के प्रमोद से प्रमुदित गवाक्षों से युक्त सैकड़ों अट्टालिकाओं से समलंकृत न हो । एक भी मार्ग ऐसा नहीं था जो कामिनियों के केलि क्रीड़ा जन्य कल्लोल से चञ्चल आंचल के हट जाने से कुचकलशों के दर्शन जन्य कुतूहल जन्य काम से उन्मथित मन वाले कामुक जनों से व्याप्त होने पर भी मर्यादानुसार सदाचार के परिपालन से प्रसारित सद्भाव से उल्लसित सज्जन लोगों की भीड़ न हो । जब स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी के अपूर्व दर्शनानन्द महोत्सव की प्रतीक्षा करने वाले सकल भावुकों की आंखें दर्शन के लिए व्याकुल होने लगी उसी समय अधीर पूर्व दिशारूपी अंगना के विरहापसारण में चतुर सूर्य के हजारों किरणों के प्राकट्य की तरह अचानक लोगों के हजारों नेत्रों ने स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी के प्रसाद सुन्दर मुख मण्डल का दर्शन किया और श्री राम जयराम जय जयराम की सुन्दर ध्वनि को सबने सुना जो त्रिभुवन को धन्य करने वाला दिशाओं के अन्तराल में विद्यमान अमंगल को दूर करने वाला सुमंगल था । अत्यधिक समय से जिसकी प्रतीक्षा कर रहे थे उन स्वामी जी को अभिलषित सिद्धि को करगत प्राप्त की तरह सम्मुख देखकर

हर्ष और उत्कण्ठा के साथ आनन्दपूर्वक परिकरों के साथ स्वामीजी महाराज का स्वागत सामग्रियों के द्वारा स्वागत समारोह सोल्लास सम्पन्न किया ।

नगर के समीप में ही साक्षाद् बैकुण्ठ जैसा एक सुरम्य सुन्दर महल था वहाँ सुपुण्य से प्राप्य अनेक प्रकार के साधनों से समाराधित एवं परिवर्द्धित मनुष्यों के मनोविलास एवं ललित राजकीय उपवन के मध्य प्रतिष्ठित प्रासाद में स्वामीजी की आवास की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी ।

वहीं आये हुए सभी प्रान्तों के मनुष्यों ने श्रीस्वामीजी के प्रवचनामृत पान से सन्तृप्तमना सत्संग समाराधन का सुख प्राप्त किया । उस समय मायावादियों का प्रचण्ड प्रभाव चारों तरफ फैला हुआ था । स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी महाराज का सकल प्राणियों के परम पुरुषार्थ की साधिका भगवान् की प्रपत्ति है इस प्रवचन को सुनकर कोई मायावादी शंका करता है ।

मायावादी- भगवन् ! अपने स्वरूप की प्राप्ति का साधन क्या है ? भगवान् की प्रपत्ति अथवा ज्ञान ? यदि प्रपत्ति को उसका साधन मानेंगे तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं है जिसकी उपासना करें । और आत्मा में जो जीव बुद्धि हो रही है वह तो मायिक हैं माया के कारण है वेदार्थ का अथवा वेदान्त का ज्ञान हो जाने पर भ्रम रूपा जीव के अज्ञान से कल्पित जीव बुद्धि को उत्पन्न करने वाली माया जब नष्ट हो जाती है तब जीव बुद्धि भी स्वत: समाप्त हो जाती है तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है अत: आत्माके स्वस्वरूप लाभ के लिए ज्ञान की ही आवश्यकता है प्रपत्ति की नहीं ज्ञान के द्वारा स्वरूप लाभ होता है प्रपत्ति से नहीं ।

स्वामीश्रीरामानन्दाचार्य- भगवन् ! आपकी यह मान्यता भी निराधार है अज्ञान से कल्पित है न तो शास्त्र से सम्मत है औन न ही युक्तिसंगत क्योंकि जीव और ईश्वर का भेद सनातन एवं शाश्वत है और दोनों के कर्म और प्रवृत्ति भी पृथक्-पृथक् है । इसमें वेद प्रमाण है- दो सुन्दर पक्षी सखा हैं एक साथ मिलकर रहने वाले हैं दोनों एक वृक्ष पर परस्पर आश्लिष्ट होकर बैठे हैं उन दोनों में एक तो सुस्वादु कर्मफल का भोग कर रहा है और दूसरा किसी प्रकार का भोग न करते हुए जीव के लिए विषयों का

प्रकाश मात्र कर रहा है । इस श्रुति से प्रतिपादित होता है कि जीवात्मा के लिए तज्जन्य कर्मों के फल का भोग है और परमात्मा तो केवल साक्षी मात्र है फलोपभोग से रहित होने पर भी सर्वदा हर प्रकार से चारों तरफ प्रकाशमान है और भी- शतपथ ब्राह्मण में- जो आत्मा में रहता है जिसको आत्मा नहीं जानता है यह आत्मा को अनुशासित करता है तैत्तिरीय में- जो समस्त प्राणियों के भीतर प्रविष्ट होकर सब पर शासन करता है । गीता में भी- हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों के हृदय में भगवान् स्थित हैं एवं हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ ।। इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्यों से स्पष्ट ही जीव और ईश्वर का भेद एवं शास्यशासक भाव सिद्ध होता है ।

और जो आपने कहा कि आत्मस्वरूप ब्रह्म में जीवबुद्धि माया से कल्पित है इति वह भी अज्ञान विजृम्भण ही है क्योंकि स्वयं प्रकाश ज्ञान स्वरूप निर्विकार ब्रह्म के ऊपर माया का प्रभाव कैसे हो गया ? माया तो अज्ञान स्वरूपा तमः स्वरूपा है स्व प्रकाश रूप विज्ञान ज्योतिः पुञ्ज-निर्विकारी ब्रह्म में उस माया अविद्याकृत विकार कैसे सम्भव है अथवा उसमें उपाधि पराधीनता कैसे सम्भव है ?

और भी- ब्रह्म और माया के बीच सम्बन्ध क्या है ? वह सम्बन्ध किसी कारण से है अथवा स्वाभाविक है यदि सहेतुक है तो वह हेतु कैसा है क्या स्वरूप है उसका ? आरम्भ में ब्रह्म से अतिरिक्त जब कोई है ही नहीं, तो वह हेतु आया कहाँ से ? प्रमाण-श्रुति-उसने देखा, अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं देखा इस वचन से स्पष्ट ही ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तु का निषेध किया गया है ।

यदि कहें कि ब्रह्म और माया का सम्बन्ध स्वाभाविक है तो वह तो हमेशा रहेगा तब तो जीव हमेशा ही बद्ध रहेगा कभी भी मुक्ति नहीं होगी ? और ब्रह्म में भी सदैव जीव सादृश्य बन्धनादिक बना रहेगा तब तो समस्त श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायेंगी और अपसिद्धान्त भी होगा ।

यदि कहें कि वह अपनी अविद्या को दूर कर लेता है तब तो सदा माया से आबद्ध ब्रह्म उस माया को नाश करने में कैसे समर्थ होगा ? माया कल्पित बन्धन कैसे दूर होगा उसके अपसारण में माया और ब्रह्म से

अतिरिक्त किसी दूसरे को यदि कारण मानते हैं तो यह असम्भव है ब्रह्म से अतिरिक्त किसी के न होने से । और भी- आपके द्वारा अभिमत ब्रह्म माया को जानता है कि नहीं ? यदि वह जानता है तो जानते हुए भी उसके बन्धन में कैसे आ गया ? कोई भी पुरुष अनिष्ट वस्तु को जानकर उसमें प्रवृत्त नहीं होता है अथवा उसमें नहीं गिरता है इसके बाद भी यदि प्रवृत्ति हो रही है तो उसमें सर्वज्ञत्व नहीं है ।

दूसरी बात- यदि अविद्या परमार्थ वस्तु में दोष उत्पन्न नहीं कर सकती है तो परमार्थ वस्तु स्वरूप ब्रह्म में माया का प्रभाव नहीं होना चाहिए और न ही जीवादि बुद्धि उत्पादन का सामर्थ्य होना चाहिए । यथार्थ रूप से ब्रह्म का ज्ञान भी सुलभ ही है वहाँ ज्ञान सम्पादन के लिए अथवा ईश्वरतत्व के परिज्ञान के लिए अब "कुश और समित् पाणि होकर किसी मुनि के समीप जाना आदि" व्यर्थ ही है सारे महावाक्य भी निरर्थक हो जायेंगे स्वतः ही मायारहित ब्रह्मा का बोध होने से ।

अतः इसे आप भी स्वीकार करें ईश्वर और जीव में परस्पर भेद है स्वाभाविक और सनातन है क्योंकि ईश्वर एक है और जीव अनेक हैं ईश्वर उपाधि रहित है जीव सोपाधिक है ईश्वर शासक, जीव शास्य, ईश्वर साक्षी मात्र है और जीव फल का उपभोक्ता है ईश्वर हमेशा बन्धन और मोक्ष से रहित है । सर्वदा एकस्वरूप में अवस्थित है और जीव बन्धन और मोक्ष का अनुभव करता है ।

यदि जीवों का अनेकत्व, जीव ब्रह्म का भेद इन दोनों को उपाधि से ही मान लें तो आप दुराग्रह से ग्रस्त हैं स्पष्ट ही कहा है भगवान् ने गीता में- जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं जिनके सब संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गये हैं जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत है और जिनका जीता हुआ मन निश्चल भाव से परमात्मा में स्थित है वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्म को प्राप्त होते हैं काम क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है । जिसकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि जीती हुई हैं ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है वह सदा मुक्त ही है ।

अर्थात् निष्पाप होते हुए भेद बुद्धि से रहित, जितेन्द्रिय, सभी प्राणियों के हित की इच्छा करने वाले, काम क्रोधादि को जितने वाले, आत्मतत्व के विज्ञाता महर्षि योगी और मनन शील मुनि महात्मा ही मोक्ष प्राप्त करते हैं वे हीं मुक्त हैं ।

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था । अथवा तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे, और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे । इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि जन्म और मरण तो चलता ही रहेगा हम लोग भी इस समय हैं, पहले भी थे, भविष्य में भी रहेंगे ही । जैसे शरीर में कौमार, यौवन, जरादि अवस्थाएँ आती जाती रहती हैं उसी प्रकार यह क्रम है अत: यहाँ विशेष चिन्तन नहीं करना चाहिए इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर और जीव ये दोनों सनातन और परस्पर भिन्न है और भी- यदि अभेद प्रतिपादक श्रुतियों के अनुरोध से भी जीवात्माओं में अभेद स्वीकार करें तो भी यह अनुचित है और श्रुति के तात्पर्य की अनभिज्ञता है यह सिद्ध होगा । क्योंकि अभेद बोधक श्रुतियां जीव और ईश्वर का अभेद नहीं सिद्ध करती हैं अपितु शरीर शरीरी भाव से दोनों में परस्पर अभेद सिद्ध करती हैं जीव और ईश्वर में अभेद नहीं ।

हमारे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में तो भगवान् स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य, क्योंकि कारणावस्था से युक्त भगवान् सूक्ष्मचिद् और अचिद् से विशिष्ट है और कार्यावस्था से युक्त भगवान् स्थूलचिद् अचिद् से विशिष्ट हैं सब कुछ भगवान् का शरीर है जैसे वेद में- पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी में रहता है जिसको पृथिवी नहीं जानती है जो पृथ्वी पर शासन करता है इसी प्रकार तेज जिसका शरीर है, वायु जिसका शरीर है जल, आकाश जिसके शरीर हैं श्रोत्र त्वग् आदि इन्द्रियाँ जिसके शरीर हैं इत्यादि सभी श्रुतियाँ अनेक प्रकार की शरीर की बोधिका होने से अभेद की प्रतिपादिका हैं ।

इस प्रकार स्वामीजी के मुखकमल से नि:स्यन्दित प्रवचन पीयूष से परिसिञ्चित होने पर उसके अन्त:करण में भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो गया और वे नितान्त प्रसन्न होकर भक्तिभाव से उद्‌भावित भगवान् की शरणागति रूप सुन्दर सुमन समूह से मण्डित स्वामी जी के अनुग्रह स्वरूप फलों की ढेर से पूर्ण मनोरथ वह मायावादी शीघ्र ही सरस भक्तिमार्ग प्रवर्तन हेतु दीक्षा सामग्री सम्भार से सम्भृत सर्वार्थ होकर तत्काल शरणागत होकर पञ्च संस्कार

से समञ्चित श्रीराम मन्त्र के श्रवण से पवित्र कर्ण युगल श्रीवैष्णव दीक्षा में समर्पित सर्वस्व वह श्री सुरेश्वराचार्यजी के नाम से प्रसिद्ध सिद्ध धर्मोपदेष्टा हुए । उस समय वृत्तान्त को सुनकर प्रायः वहाँ की सभी जनता भी भगवान् की भक्ति के प्रचार प्रसार में स्वामी जी के साथ सर्वात्मभाव से अनेक व्यापार से शरीर वाणी और मन से संलग्न हो गयी ।

इस प्रकार अपनी दक्षिण दिशा की दिग्विजय की यात्रा सम्पन्न करके श्रीस्वामीजी ने महाराष्ट्र के लिए प्रस्थान किया । वहाँ से सभी महात्मा साधुओं की मण्डली के साथ धीरे-धीरे रास्ते पार करते हुए रामटेक पण्ढरपुर आदि स्थानों का दर्शन करते हुए जब नासिक पहुँचे तब मार्ग में एक सिद्धमणि का जैन साधु आया और यात्रा में सम्मिलित हो गया । वह अपने जैन सिद्धान्त का निष्णात बिना विश्राम के शास्त्रार्थ करने में दक्ष था आकर श्रीस्वामीजी को लक्ष्य करके बोला- कि संसार का कर्ता वेद में ईश्वर को बताया गया है यह कथन केवल मन की कल्पना मात्र है और अज्ञान का विलास है संसार का रचयिता कोई ईश्वर नहीं है संसार तो अनादि है स्वयं प्रकट हुआ है ।

उसकी घोषणा को सुनकर गम्भीर और धीर स्वर में मेघनाद करते हुए शान्त भाव से श्रीस्वामीजी ने सरल रीति से उत्तर दिया ।

संसार की ऐसी नियमित और सुव्यवस्थित रचना और उसकी गतिविधि को देखकर कोई भी बुद्धिमान् ऐसा नहीं कह सकता है कि इस जगत् का कोई कर्ता नहीं है अरे भाई ! प्रतिदिन सूर्य और चन्द्रमा समय से उदित होते हैं और समय पर अस्त होते हैं यथा समय पर ह सभी ऋतुएँ क्रमण से वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् हेमन्त और शिशिर आती है और चली भी जाती है स्वयं विलास करती है और विलास कराती हैं जड़ चेतन सभी जीवों को । पञ्च महाभूत भी यथा स्थान पर स्थित होकर जगद् व्यापार का सञ्चालन करे हैं एक क्षण के लिए भी उनका विपरीत अन्यथा रूप नहीं होता है । इसका क्या कारण है ? ये चराचर भूत प्राणी मर्यादित इस प्रकार विलास क्यों करते हैं ? अवश्य ही इसका कोई नियामक है । और इसका नियामक भी कोई सामान्य पुरुष नहीं हो सकता । जो इसका नियन्ता है नियामक है वह सर्वशक्तिमान् सर्व प्रकार से समर्थ करने, न करने और अन्यथा करने में भी समर्थ है ।

किञ्च- सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल तेज और वायु ये सभी दृश्य पदार्थ विकारी हैं ये नित्य और अविनाशी नहीं हो सकते क्योंकि प्रलयकाल में सबका उपसंहार हो जाता है तब ये अनादि कैसे हो सकते हैं और यदि कहे कि शायद हो, शायद न हो इस अत्यन्त विचित्र सिद्धान्त को स्वीकार करके हम संसार का नित्यत्वसिद्ध करेंगे तो परस्पर विरुद्ध धर्मों का और नित्य एवं अनित्य पदार्थों का एक जगह एक काल में स्थिति कैसे हो सकती है यदि मानेंगे तो जहाँ नित्यत्व रहेगा वहीं अनित्यत्व भी मानना पड़ेगा विरुद्ध धर्मों का एक जगह उपलब्ध होने से दोनों की सत्ता मानने पर किसी एक का अपलाप नहीं कर सकते इति उभय तो पाशारज्जु की स्थिति हो गयी।

अत: जो विनाशशील पदार्थ है वे अनित्य और कार्यरूप हैं जो भी कार्य होता है वह स्वयं उत्पन्न नहीं होता है बिना कर्ता के। अत: उसका कर्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। कर्ता के सिद्ध हो जाने पर इस विचित्रतम संसार का भी कोई विलक्षण कर्ता होना चाहिए वही हमारे यहाँ अत्यन्त विचित्र विरुद्ध धर्माश्रय विचित्र शक्तिमान् ईश्वर है।

जैन साधु:- भगवन्! आपका वह ईश्वर शरीर धारी है कि बिना शरीर का है यदि उसका शरीर है तो वह दृश्य है अथवा अदृश्य ?

स्वामीजी- भगवन्! हमारे भगवान् भक्त वत्सल हैं भक्तानुग्रह कातर हैं अपने भक्तों की भावना के अनुसार अनेक शरीर धारण करते हैं सबके नेत्र के विषय होते हुए भी अलौकिक शरीर वाले हैं लौकिक विकार से रहित शुद्ध निर्लेप अपने प्रपन्न भक्तों के नयन के विषय एवं अपने कृपापात्र भक्तों के चक्षु के विषय होते हैं सामान्य लोगों के ज्ञान के विषय नहीं होते हैं।

जैन साधु- यदि आपका ईश्वर शरीरधारी है और जगत का कारण है तो वर्षाकाल में खेतों में अपने आप उत्पन्न तृण गुल्मादि का कारण क्यों नहीं है वे तो अपने आप उत्पन्न होते हैं सब लोग देखते हैं फिर आपका ईश्वर सबका कारण तो नहीं हुआ ?

स्वामीजी- भगवन्! यही आपका भ्रम है या मूर्खता है। आपका पिता आपके प्रति कारण है फिर वह आपके पुत्र पौत्रादि का भी जनक या उत्पादक है क्या ? इसी प्रकार ईश्वर भी। ईश्वर तो सृष्टि के आरम्भ में ही चराचर जगत् की रचना के समय सभी वस्तुओं सर्व प्रकार ऊँच नीच बीजों

की रचना कर दी है तत्पश्चात् सभी प्रकार के बीजों से प्रतिवर्ष अविच्छिन्न रूप से धारावाहिक रूप से समय पर तृण गुल्मादि की उत्पत्ति होती ही है अत: मूल रूप से आदि कर्ता तो भगवान् ही है इसमें कोई शंका नहीं है ईश्वर ने जो विधान कर दिया उसी के अनुरूप सृष्टिक्रम चलता रहता है अत: ईश्वर का कर्तृत्व सुकर है ।

और भी सबका नियामक वही हैं जैसे ऐन्द्रजालिक नट होता है अपनी इच्छा से कठपुतली आदि को जैसे-जैसे नचाता है वैसे ही कठपुतलियां नाचती हैं इसी प्रकार चराचर की स्थिति है जगत् में सर्वत्र कर्ता तो एक ही है अनेक कर्ता मानने पर कार्योत्पत्ति में विक्षेप होगा अनेक में अनेक रूचि के होने से । एक ही भगवान् सर्वान्तिर्यामी और सर्वव्यापक है कहीं अपने धर्म भूत ज्ञान के द्वारा और कहीं अपने स्वरूप द्वारा साक्षात् शरीर रूप से भक्तों की भावनानुरूप सभी रूप से सर्वत्र विद्यमान है । इसी प्रकार वेद में भगवान् के हस्तपादादि नेत्र शिर और मुख सर्वत्र और सभी ओर है ऐसा वर्णन है वह भी सामान्य मानव की दृष्टि से नहीं है अपितु वस्तुत: अनन्तरूप परमात्मा के कल्पनातीत वाणी और मन से सर्वथा परे स्वरूप का वर्णन है भगवान् के सर्वरूप होने से, सर्वत्र स्थिति से और सबके नियन्ता होने से ऐसा वर्णन है वेद से ही भगवान् के स्वरूप का बोध होता है और वेद अपौरुषेय है साक्षाद् भगवान् के निःश्वास है आप्त हैं अलौकिक है समस्त प्रमाणों के मूल हैं और स्वत: प्रमाण रूप हैं अत: सर्वसम्मत एवं सर्वमान्य हैं ।

जो वेद में भगवान् के विरुद्धधर्माश्रयत्व का प्रतिपादन हुआ है वह भी ठीक ही है भूत भविष्य और वर्तमान, अतीन्द्रिय पदार्थों का परस्पर विरुद्ध कर्म वाले व्यापार वालों का भी कथन, भगवान् की महिमा का बोध कराने के लिए हैं भगवान् के सर्वगतत्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्म के ज्ञापन के लिए है और भी- सृष्टि के आदि में जगत् में व्याप्त ब्रह्माजी के द्वारा रचे गये पदार्थों के पृथक्-पृथक् नाम और रूप का कैसे परिज्ञान होता यदि भगवान् स्वयं ही अपने से रचे गये पदार्थों का नाम और स्वरूपों से परिज्ञान न कराते अत: वेदों में सभी भूत भविष्य और वर्तमान चराचर समस्त पदार्थों का अनेक नाम रूप और आकृतियों से प्रतिपादन स्वयं भगवान् ने किया है इति, मनुष्यबुद्धि से वहाँ आश्चर्य और असम्भव लगता है ।

दूसरी बात- वेदों में कहीं-कहीं विपरीत व्यवहार दिखायी देता है वहाँ भी कोई न कोई कारण है काल के भेद से, और कर्म के भेद से प्रतिपादित है न कि सर्वदा सब जगह व्यवहार के लिए जैसे किस भी प्राणी की हिंसा मत करो ऐसा कहकर फिर कहा कि अग्निषोमीय पशु का आलभन करो-इत्यादि जहाँ कहा गया है वहाँ अनेक दृष्टि से कहा गया है एक समय पहले ऐसा था कि जब सब लोग मांस खाते थे प्रतिदिन । उस समय उनके नियन्त्रण के लिए यज्ञ यागादि कर्म पर्व में पशु हिंसा का विधान किया गया कि हर समय मांस मत खाओ बल्कि यज्ञ यागादि के समय खाओ । उससे प्रतिदिन हिंसा की प्रवृत्ति उनकी शिथिल हो गयी उस समय ही याज्ञिकी की हिंसा उतना दोषावह नहीं है जितना अपने जिह्वा के स्वाद के लिए खाते हैं और हिंसा करते हैं ।

किन्तु हिंसा का फल भी अनिवार्य ही है यह भी वर्णित है यज्ञादि में की गयी हिंसा भी हिंसा ही है जैसे यज्ञ से स्वर्गादि अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है वैसे ही पशु हिंसा जन्य अपूर्व दुष्कर्म फल प्राप्ति भी अवश्य होती है इस युक्ति से निषेध भी निर्दिष्ट है किन्तु स्वर्गादि सुख लाभ की अपेक्षा पशु हिंसा जन्य अपूर्व नरकादि दुख भोग गौण है अल्पकालिक है इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं परन्तु यज्ञ के द्वारा जैसे स्वर्गादि सुख भोग मिलता है वैसे ही पशु हिंसा जन्य दुख भोग भी ।

जैसे जैन धर्म के सिद्धान्त में भी अहिंसा को परम धर्म माना जाता है ऐसा वर्णन करके प्रतिदिन के आचार के वर्णन में गरम जल के द्वारा साधुओं के कर्म की व्यवस्था दी क्योंकि ठण्डे जल में कीटाणु होते हैं गरम करने से मर जायेंगे इससे तो कीटाणुओं की हिंसा उनके द्वारा भी हुई जैसे स्थूल हिंसा वैसे ही सूक्ष्म हिंसा । हिंसा तो ही है फिर एक जगह अहिंसा का वर्णन करके दूसरी जगह कीटाणुओं के हिंसा का विधान क्यों किया ? इसी प्रकार जैन साधुओं के लिए स्त्री स्पर्श वर्जित है फिर भी यदि कोई नवयुवति स्त्री अपने शरीर में आग लगाकर जल रही हो, वहाँ यदि कोई जैन साधु हो ओर वह उसको तत्काल पकड़कर जलने से बचा ले तो ऐसी स्थिति में स्त्री स्पर्श का निषेध नहीं है और कोई स्त्री पानी में डूब रही हो तो उसकी रक्षा करना भी गौण धर्म है मुख्य तो स्त्री का स्पर्श न हो है तथापि समय पर मुख्य धर्म को छोड़कर गौण धर्म के स्वीकार करने पर भी जीव रक्षा का

धर्म सिद्ध होगा । और साधु दोष का भागी नहीं होगा इसी प्रकार हमारे वैदिक धर्म में भी परस्पर विरुद्ध विधि और निषेध का भी विधान है ।

जैन साधु- भगवन् ! आपका ईश्वर स्वतन्त्र है या परतन्त्र । यदि स्वतन्त्र है तो मानवों के प्रति सम विषम का व्यवहार क्यों करता है जैसे किसी को सुखी ? क्यों नहीं सबको सुखी बना देता है ?

स्वामीजी- भगवान् तो हर प्रकार से स्वतन्त्र है किन्तु एक जीव सुखी है दूसरा दु:खी है यह व्यवस्था तो उसी ने सृष्टिकाल से ही सबसे पहले सुख दुखादि भोग तो अपने-अपने कर्म के अनुसार होते हैं यह व्यवस्था निश्चित कर दिया है वह तो पुन: कर्म में प्रवृत्त जीवों का नियामक होकर स्वतन्त्र ईश्वर है । जैसे न्यायाधीश लोगों को कर्मानुसार ही निर्णय देता है वैसे ही ईश्वर भी इससे तो न्यायपरता ही सिद्ध होती है न कि सम विषम भाव ।

जैन साधु- रक्त अस्थि मज्जामलमूत्र से सम्भृत इस देह की शुद्धि स्नान कैसे होगी ? जल से स्नान करने से असंख्य कीटाणु नष्ट हो जाते हैं अत: स्नान से भीतर की शुद्धि नहीं होती है स्नान करना और वैदिक धर्म में निष्ठा करना यह दोनों वैदिकों का पाखण्ड है स्नान से शरीर की बाहर की शुद्धि मान सकते हैं भीतर की शुद्धि और भीतरी मल का दूरी करण नहीं । १-२

स्वामीजी- भगवन् ! आप व्यर्थ में प्रलाप क्यों करते हैं अपने को देखो । जैन साधु की बात सुनकर क्रोधपूर्वक उसको भटकारते हुए स्वामीजी ने कहा हे अपवित्र ज्ञान वाले और कुण्ठित बुद्धि वाले साधु ! जिन अङ्गों से उत्तम कर्म की सिद्धि होती है उसके स्नान का निषेध करता है ? शरीर की बाहरी शुद्धि जल से ही होती है ऐसा हमने सुना है । सत्कर्मों और शास्त्रों के चिन्तन विवेचन से भीतरी शुद्धि होती है । अत: पहले जल से स्नान करके पवित्र देह होकर बाहर की शुद्धि को करो तुम्हारे मत में स्नान उचित नहीं है उसमें कीटाणुओं की हिंसा होती है यदि जल के कीटाणुओं के मरने के भय से स्नान नहीं करते हो तो आप लोगों को मल का त्याग नहीं करना चाहिए । अपान वायु के छोड़ते समय शरीर में हिंसा होती है कि नहीं ? दुर्गन्ध से प्राण का निरोध होने पर समीप में स्थित कीटाणुओं की हिंसा हुई कि नहीं ? तुम्हारे यहाँ भी स्वरूप हिंसा, हेतु हिंसा और अनुबन्ध हिंसा ये तीन हिंसा मानी जाती है जो प्रत्यक्ष दीख रहा है वह प्रथम हिंसा, जो स्वत: हो जाय वह द्वितीया और जो किसी कारण से हो वह हेतु हिंसा होती है । ३-४-५-६-७-८

आपके तीर्थंकरों ने शास्त्र के विवेचन से जो अनुबन्ध हिंसा को स्वीकार किया है इस प्रकार पृथिवी पर रहने वाला मनुष्य इस समय उन हिंसाओं से नहीं बच सकता है । घर के निर्माण के समय चैत्य दैवालय के संस्थापन के समय आते जाते समय भोजन के समय वार्तालाप के समय तो हिंसा नित्य होती है । कदम-कदम पर प्रतिक्षण अत्यन्त स्वल्प हिंसा तो होती ही है । सूक्ष्म और अनुरूप हैं अतः दिखायी नहीं देते हैं उससे फल की प्राप्ति अधिक है इसीलिए उन हिंसाओं को दोषी नहीं माना गया । ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म हिंसा आपके मत में हिंसा स्वरूप नहीं मानी जाती है उसी प्रकार हमारे यहाँ वेद में यज्ञीय हिंसा को हिंसा नहीं मानी जाती है हिंसा जन्य पाप से पुण्य अधिक है यज्ञानुष्ठान में दुख से अधिक सुख की प्राप्ति के लिए ही यज्ञ में पशु का आलभन करते हैं । स्नान से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है उसका प्रभाव चित्त पर पड़ता है शुद्ध अन्तःकरण और विशुद्ध हृदय से जो कर्म करता है उसका अनन्त फल प्राप्त होता है । स्वामी जी के वक्तव्य को सुनकर वह जैन साधु स्वामी जी के शरण में आ गया और विधिपूर्वक दीक्षा लेकर श्रीवैष्णव भागवत हो गया और स्वामी जी की आज्ञा से भूतल पर श्रीराम भक्ति का प्रचार प्रसार करने लगा । १०-१५ तक ।

छप्पनवाँ परिच्छेद

इस प्रकार अनेक प्रकार के विचारधारा के प्रवाह में गिरे हुए पङ्गु मति वालों और कुमति वालों को सुमतिमान् बनाते हुए हरिद्वार से प्रस्थान करके स्वामीजी ने श्रीबदरीकाश्रम को देखने की इच्छा होने पर भी पंजाब में अनेक धूर्त लोगों के द्वारा जन प्रतारण, सद्बुद्धि का संहार, सत्प्रथा का निवारण वाणी के आडम्बर ताण्डव रचना वचन चातुरी में दक्ष अपने वाग्जाल में सीधे सादे लोग मोहित किये जा रहे हैं सरल सरस बुद्धि वालों को प्रतारित करते हुए हजारों पाखण्डी चारों ओर घूम रहे हैं और सीधे सादे लोगों को कुमार्ग में स्वेच्छाचार के मार्ग में चला रहे हैं वहाँ की जनता भी सन्मार्ग दर्शक के अभाव में कुमार्ग को ही सन्मार्ग समझकर धूर्तों से प्रचारित स्वेच्छाचाररूपी अपार समुद्र में गिर रही हैं इस समय वहाँ उन मुग्ध प्राणियों के सम्यक् उद्धार का उपाय नहीं दिख रहा है प्रायः सभी चाहते हैं अपने आत्मा के उद्धार का उपाय यह बात कर्ण परम्परा से सुनकर बदरिकाश्रम गमन का विचार छोड़कर उन लोगों के उद्धार के लिए अपने गमन का लक्ष्य पंजाब को बनाया ।

नियम के अनुसार जगह-जगह पर धर्मोपदेश धार्मिक कथा वार्ता करते हुए जब पंजाब से कुछ दूर पर ही थे उसी समय राजमार्ग में सभी लोगों को देखते हुए सभी के सामने ही कोई पाखण्ड ताण्डव में दक्ष धूर्तराज शराब पीने वाला स्वयं तो नग्न था ही और कुछ नग्न युवतियों के साथ संगम करते हुए निर्लज्ज वह उन युवतियों के साथ स्वेच्छापूर्वक विहार कर रहा था इस प्रकार अभद्रकर्म में प्रवृत्त उस धूर्तराज को देखकर स्वामी जी ने उसको खूब भटकारा और समीप जाकर सिंहनाद करते हुए उसको रोका हन्त रे दुराचारिन् ! ठग नीच ! पाखण्डी ! इस प्रकार अत्यन्त घोर पापाचरण क्यों कर रहे हो ? जिसको देखकर स्वयं भगवती वसुन्धरा भी लज्जा कर रहीं है तुम्हारे दुराचार के भार से दबी जा रही है । यह सुनकर निर्लज्जता की पराकाष्ठा को प्राप्त वह दुराचारी भी अट्टहास करता हुआ जोर-जोर से हँसता हुआ स्वामी जी को उत्तर दिया ।

पाखण्डी पण्डित- क्यों रे वैष्णवसाधु ! व्यर्थ में ही काषायवस्त्र धारण करके आत्मज्ञान से विमुख होकर घूम रहा है बड़े दुख की बात है अन्यथा हमारे इस विहार को देखकर आश्चर्यचकित होकर मेरी अत्यन्त भर्त्सना नहीं करता, लगता है आपको गीता का ज्ञान भी विस्मृत हो गया है । अरे गीता में तो लिखा है-

तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता हुआ और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बरत रही है इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

इस प्रकार सभी देह इन्द्रियादि अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त है स्वतन्त्र विहार कर रहे हैं शुद्ध बुद्ध मुक्तभाव आत्मा का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है यह तो शास्त्रों का ही निर्णय है तब हमारे चरित्र के विषय में सन्देह करने की, अन्यथा कल्पना करने की भावना, अथवा आश्चर्य की कोई आवश्यकता ही नहीं है तू कैसा ज्ञानी है अरे हम तो स्वयं ही परमहंस श्रीकृष्ण के भक्त और कौल हैं ।

स्वामीजी- रे धूर्तराज ठग ! दम्भी ! तू साधु नहीं है साधु के वेष में कलंक है धर्म के नाश में लगा हुआ है परायी स्त्रियों के सतीत्व को लूट रहा है स्वेच्छाचारी है अपने-अपने धर्म कर्म लोक लज्जादि लौकिक व्यापार का संहार करने वाला है कुकर्मी है अन्यथा आत्मज्ञान का इतना उपहास नहीं करता । परमपावनी भगवती गीता का उदाहरण देने के लिए वहाँ के परम पावन श्लोकों का इस दुराचार पापकर्म व्यभिचार के व्यापार में दुरुपयोग क्यों कर रहा है । अरे निर्लज्ज ! मूर्ख ! धूर्त ! शराबी ! इस कुकृत्य को आत्मज्ञानमय बना रहा है वाग्जाल का विस्तार करके विज्ञान को ठग रहा है और विद्वानों को मोहित करने की कुचेष्टा कर रहा है इतना ही तुम्हारा ज्ञान है । क्या गीता जी का यही अर्थ है ? तत्वज्ञानियों महात्माओं की कहीं ऐसी प्रवृत्ति देखी है ? वे तो विषयों से कोषों दूर रहकर लोगों का उद्धार करते हैं और तुम्हारे जैसे मूर्खों व्यर्थ ही आत्मज्ञानी मानने वाले दम्भी लोगों का उद्धार करते हैं और तुम्हारे जैसे ही आत्मज्ञानी मानने वाले दम्भी लोगों का शोधन करते हैं इस समय आप शराब पीकर पागल हो गये हैं इसलिए शास्त्र के

तत्त्वों का चिन्तन नहीं करते हैं । कामान्ध दुराचारी की बुद्धि स्थिर नहीं होती है अरे मदान्ध स्वात्मनिष्ठ बनो ! भगवान् गीता में क्या कहते हैं ?

सुनो- जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप प्रतीत होते हैं तो भी निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य है इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता । एवं विष्णु पुराण में भी- जीव जितने मन के प्रिय वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करता है उतने ही उसके हृदय में शोक के गर्त खोद दिये जाते हैं ।

अतः ध्यान दो- जीव के लिए ये सब कर्म शोक के शंकु रूप हैं । तुम इस दुराचार को ब्रह्म ज्ञान मान रहा है बड़े दुःख की बात है कि तुम्हारे दुर्बुद्धि का इतना विकास हो गया है । तुम्हारे जैसे लोगों के लिए ही भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है कि- कलियुग के आने पर अपने को ब्रह्म कहेंगे हे मैत्रेय ! सब शिश्न और उदर तृप्ति में लगे रहेंगे ज्ञान का अनुष्ठान नहीं करेंगे केवल वाचिक ब्रह्मज्ञानी होंगे ।

श्रीस्वामी जी के मुख से ऐसा सुनकर वह क्रुद्ध होकर बोला कि हम लोग ब्रह्मज्ञानी नहीं है ? केवल शिश्नोदर परायण दम्भी हैं क्या हम लोगों की परीक्षा करना चाहता है ।

स्वामीजी- हां ! यदि आप सत्य ब्रह्मज्ञानी है तो इस विष पात्र को ग्रहण करो और पीकर अपना ब्रह्मज्ञान प्रकट करो ऐसा कहकर स्वामीजी ने विषपात्र उसकी ओर बढ़ाया, उसको देखकर वह स्तब्ध रुद्ध और क्रुद्ध हो गया और बोलता है क्या हमको मारना चाहता है विष पिलाकर, यदि हम ब्रह्म ज्ञानी नहीं है और आप ही ब्रह्मज्ञानी हैं तो स्वयं विष पीकर अपना पौरुष प्रकट करो ।

श्रीस्वामीजी- मन्द मुस्कराते हुए वार्तालाप करते हुए सभी के सामने उस विष पात्र को उठाकर हाथ में लेकर "श्रीरामाय नम;" कहकर भगवन्नाम उच्चारणपूर्वक तत्काल विष पी गये । उस समय विस्मयपूर्वक देखते हुए सभी साधु बहुत अच्छा कहते हुए "श्रीस्वामी जी महाराज की जय" ऐसा जयघोष करते हुए खड़े रहे उस दृश्य को देखकर अत्यन्त लज्जित होकर वह इस समय पराजित होकर श्रीस्वामी जी के चरण कमल रसास्वाद लोलुप

भ्रमर की तरह चरणों में गिर पड़ा । परम दयालु श्रीस्वामीजी ने उस दुष्ट कर्म करने वाले को भी उद्धार करने की इच्छा से स्वीकार कर लिया उसी दिन से वह सर्वात्मभाव से स्वामीजी का शिष्य होकर धर्म तत्पर हो गया ।

तत्पश्चाद् आचार्यचरण ने पंजाब प्रदेश में धर्म का प्रचार, भगवन्नाम का उपदेश एवं भगवद्भक्ति का प्रचार करते हुए क्रमशः जम्बू प्रदेश को पार करके प्रकृति सुन्दरी के विलासोल्लास का भाजन परम रमणीय सुरसरस्वती विलास से विलसित विद्वद् वरेण्यों का सुखावास को अपने नेत्रों से देखा । वहाँ सुमधुर सरस समागम हुआ सद्आगम के विचार विमर्श से समुद्भूत आनन्द सन्दोह दोहद और विविध शास्त्रों में निष्णात प्रकाण्ड पण्डितों के साथ सुमधुर आलाप हुआ जो सहानुभूति परमभक्ति से पुष्ट और सन्तुष्टिप्रद रहा ।

नियमानुसार प्रतिदिन सांयकाल के प्रवचन के अवसर पर मूर्तिपूजा विषयक प्रश्न उठा ।

श्रीआचार्य चरण- स्वामी जी ने कहा आप सभी भगवदीय महामान्य विद्वान् श्रोता है अतः अब सावधान हो जाइए और मूर्तिपूजा विषयक प्रक्रिया को ठीक से धारण करें । हमारे वेदों में सोलह हजार (१६०००) मन्त्र उपासना के हैं सांसारिक कर्म बन्धन से मुक्ति के लिए जीवों के लिए उपासना से अन्य कोई अत्यन्त सरल मार्ग दूसरा नहीं है । जिसका आश्रय लेकर जीव तत्काल मुक्त हो सके । उपासना ही केवल मुक्ति की साधिका है इसके अलावा संसार में अत्यन्त सरल और सुकर दूसरा साधन नहीं है अतः हमेशा उपासना ही करनी चाहिए । वह उपासना भी तभी सुदृढ़ होती है जब उसके लिए सुदृढ़ आश्रय प्राप्त हो जहाँ वह सुखपूर्वक सुस्थिर रह सके । ऐसा आश्रय तो भगवान् का स्वरूप ही है जहाँ सुखपूर्वक मन लगे । उसको छोड़कर दूसरी जगह मन न लगे । अतः प्राचीन आचार्यों ने मूर्तिपूजा का प्रचार प्रसार किया । उपासना की सिद्धि के लिए मूर्तिपूजा ही परम साधन है वैदिक काल से लेकर ही मूर्तिपूजा के प्रभाव से हजारों भक्तों ने भगवान् साक्षात्कार किया । क्योंकि जो सर्वात्मभाव से ध्यान का विषय बनता है वही कालान्तर में सुदृढ़ मन में प्रसक्त होकर भीतर ध्यान का विषय ही स्वरूप बाहर स्पष्ट प्रकट हो जाता है सभी योगियों की भी यह परिपाटी है कि अपने लक्ष्य के परिग्रहण में जिसकी जैसी पटु धारणा होती है उसके लिए तत्काल ही वह ध्यान गम्य भगवान् का स्वरूप प्रकट हो जाता है । स्वरूप के

अनुरूप ही नेत्र विषय एवं लक्ष्यभूत परमानन्दकन्द स्वरूप प्रत्यक्ष होता है जो सर्वात्मभाव से अनन्य शरण हैं प्रतिपल अनन्य भावना में अनवरत ध्यान करने से अखिल लौकिक पदार्थों की स्पृहा का जो त्याग कर चुके हैं सर्वथा नि:स्पृह हैं भगवान् के चरणारविन्द के अमन्दमकरन्द पान मात्र की स्पृहा है जिनकी ऐसे भगवान् के कृपा भाजन परम भागवत सन्तों महान्तों और श्रीवैष्णवों की कथा का क्या कहना।

भागवत के सप्तम स्कन्ध में- जब हिरण्यकशिपु अपने पुत्र को मारने के लिए हाथ में तलवार लेकर उद्यत हुआ और बोला- अरे तू क्यों इतनी डींग हाँकता है मैं अभी-अभी तेरा सिर धड़ से अलग किये देता हूँ देखता हूँ तेरा वह सर्वस्व हरि जिस पर तुझे भरोसा है तेरी कैसे रक्षा करता है ? इस प्रकार वह अत्यन्त बलवान् महादैत्य भगवान् के परम प्रेमी प्रह्लाद को बार-बार झिड़कियाँ देता रहा और सताता रहा जब क्रोध के मारे वह अपने को रोक न सका, तब हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और बड़े जोर से उस खम्भे को एक घूँसा मारा उसी समय उसमें एक भीषण शब्द की ध्वनि हुई जिससे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। इसी समय अपने भक्त की वाणी को (श्री प्रह्लाद और ब्रह्माजी) की वाणी को सत्य करने और समस्त पदार्थों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिए सभा के भीतर उसी खम्भे में बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंह का ही था और न मनुष्य का ही।

इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् सर्वत्र हैं तब मूर्ति में क्यों नही होंगे। भगवान् तो भक्त के पराधीन है भक्त की भावना के अनुरूप ही अपने रूप को सब जगह प्रकट करते हैं और भक्त की भावना के अनुकूल सभी कार्य करते हैं और- कुछ लोग कहते हैं कि मूर्ति प्राचीन नहीं है अपितु अर्वाचीन है इति उनका यह कथन भी भ्रम है और शास्त्र की अनभिज्ञता है। मूर्तिपूजा आधुनिक नहीं है सृष्टि काल से ही चल रही है वह वैदिक काल की है स्वयं वेद भी मूर्ति का निर्मापक है।

जैसे ऋग्वेद से सब प्रकार की मूर्ति उत्पन्न हुई ऐसा कहते हैं। और यजुर्वेद से सबको गति प्राप्त हुई। सब प्रकार का तेज ज्योति सामवेद से प्रकट हुआ यह सब ब्रह्माजी ने रचना की है। और मूर्ति निर्माण की विधि

भी वेद भगवान् बताते हैं उपासना प्रकरण में, मूर्ति निर्माण का प्रकरण है अनेक प्रकार के पदार्थों से भगवान् की मूर्ति का निर्माण किया जाता है।

अनेक मृत पाषाणादिमय भगवान् के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेद वर्णन करते हैं कि अश्मा, मृत्तिका, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, जल, श्याम, लोहा, सीसा, त्रपु आदि पदार्थों से भगवान् की मूर्ति का निर्माण कराकर यज्ञ द्वारा प्रतिष्ठित करके पूजा कर सकते हैं अर्थात् हर प्रकार के धातु का विग्रह भगवान् हो सकते हैं।

सारे पदार्थ भगवान् के विग्रह ही है अत: अश्मा, मृत्तिका, सुवर्ण, लोहा, सीसा, त्रपु, जतु आदि जिस किसी पदार्थों की प्रतिमा का निर्माण कर सकते हैं अवसर के अनुरूप जैसा गुरुजनों का आदेश हो, जैसा उपलब्ध हो पदार्थों की सुविधा हो, वैसा ही तत्तद् धातुओं से भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाकर अपने मनोयोग के अनुरूप रूचि के अनुरूप दृढ़ निश्चय करके भगवान् की उपासना करनी चाहिए। परिचर्य्या प्रकरण में कहा गया है कि- स्नान करके पवित्र जगह को गाय के गोबर लिपकर भगवान् की प्रतिमा बनाकर गन्ध अक्षत पुष्पादि जो समय से उपलब्ध हों उन पदार्थों से भगवान् की पूजा करें। पाषाणमय विग्रह में भगवान् के आवाहन के समय प्रतिष्ठा काल में यह मन्त्र बोला जाता है हे प्रभो आप पधारिये इस पाषाण प्रतिमा में विराजिए आज से यह पाषण ही आपका शरीर हो जाय सौ वर्ष की आयु विश्वेदेव देवता प्रसन्न होकर प्रदान करें। इस मन्त्र से भगवान् का आवाहन करके आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्रालंकार और यज्ञोपवीतादि से परिमण्डित करके पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पूगीफल, श्रीफल सुवर्ण दक्षिणादि से भगवान् की पूजा करके प्रार्थना करें उसके बाद भगवान् अपने उपासक को उसके अभीष्ट को प्रदान करते हैं भगवान् वेद निर्देश करते हैं अर्थात् सुवर्णादि धातु से निर्मित भगवान् की मूर्ति सम्यक् पूजित होने पर उपासक को सौ साल की आयु प्रदान करते हैं शतायुषं कृणुहि इस वाक्य से सौ वर्ष आयु की कामना प्रदर्शित की गयी है अत: प्रतीत होता है कि मूर्तिपूजा से सौ वर्ष की आयु आदि फल की प्राप्ति होती है। मूर्तिपूजा का प्रचार प्रसार वैदिक काल से प्रचलित है आधुनिक नहीं है जिसके द्वारा साकार ब्रह्म भगवान् में सरलता से मनोयोग सुस्थिर हो जाय। इस प्रकार सर्वाकार सर्वाधार सर्वस्वरूप सर्वव्यापक भगवान् जिस किसी स्वरूप या

विग्रह में सम्यक् आराधित होते हैं तो तत्काल भक्त के अभीष्ट को पूर्ण करते हैं भक्तों की भावना के अनुरूप साक्षाद् भी प्रकट होकर भक्तवत्सल भगवान् भूरि भाव से भक्त की रक्षा करते हैं ।

यहाँ जो कुछ लोग अपनी इच्छा के अनुरूप मन्त्र भाग का अर्थ प्रकृति के अनुसार करते हैं वे लोग अज्ञानी है। क्षमा के योग्य हैं प्रवाह में बहने वाले अज्ञान से विजृम्भित हैं सद् असद् के विवेक से रहित और भगवान् से उपेक्षित हैं । उस प्रकार के अर्थ ज्ञान से विमूढ़ होने से स्वयं भ्रान्त होते हुए दूसरे भोले भाले लोगों को व्यामोहित करते हैं अपने बुद्धि के अनुसार वेद के अर्थ को सुनाकर लोगों को भ्रमित करते हैं वे भी समयानुरूप समझने योग्य हैं-

जैसे वेदभाग- 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' 'स पर्यगाच्छुकमकाय' इत्यादि का अपनी इच्छा से अर्थ कहते हैं कि 'भगवान् की तो कोई प्रतिमा ही नहीं है ऐसा वेद में लिखा है और पुन: वेद कहा है कि ईश्वर अकाय है अर्थात् ईश्वर के शरीर नहीं है इति किन्तु प्रकरण का विचार किये बिना प्रसङ्ग से विमुख लोग ही ऐसा अनर्थ करते हैं । वे नहीं जानते है कि भगवान् की सामान्य लोगों की तरह जैसे हम लोगों का है वैसी प्रतिमा नहीं है यह तात्पर्य है और न ही, जैसे हम लोगों का शरीर भोगायतन है भौतिक है वैसा भगवान् का नहीं है । सामान्य लोगों के सदृश लौकिक पाञ्च भौतिक शरीर का ही निषेध है न कि अलौकिक मायातीत अप्राकृत गुण गण विशिष्ट सच्चिदानन्द घन शरीर का निषेध है । और भी- भगवान् एक आकारवान् और एक शरीरधारी नहीं है तब कैसे निर्णय हो कि भगवान् ऐसे हैं यह उनका शरीर है वह तो अनन्त कायरूप है अनन्त आकार वाले हैं अत: इदमित्थम् रूप से परिगणना अथवा वर्णन नहीं कर सकते हैं अत: जगह-जगह पर प्राकृत हेय गुण विशिष्ट शरीर का निषेध भगवान् में वर्णित है बल्कि विशेष रूप से वर्णित है-- प्राकृत धर्मानाश्रय अप्राकृत निखिल धर्म रूप ।

इसी प्रकार कुछ लोग ब्रह्म को साकार मानते हैं कुछ लोग निराकार । वहाँ भी वे भ्रान्त हैं क्योंकि भगवान् का एक ही प्रकार का रूप नहीं है अपितु वेदों में जगह-जगह वर्णित है कि ब्रह्म का दो स्वरूप है मूर्त और अमूर्त अर्थात् सगुण और निर्गुण । सगुण निर्गुण स्वरूप वाले भगवान् हैं और विरुद्ध धर्माश्रय हैं विरुद्ध धर्मों के आधार हैं इसी लिए प्राकृत गुण और धर्म

से रहित हैं दूसरी जगह- बिना हाथ पैर के होते हुए भी तीव्रगति से गमन करते हैं और ग्रहण करते हैं ।

पुराणों में भी करकमल, पदकमल, मुख उदरादि ये सब ठाकुरजी के आनन्द स्वरूप हैं अनन्त सिर हैं अनन्त नेत्र हैं अनन्त पद हैं इत्यादि श्रुतियां भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रयत्व का ही प्रतिपादन करती है ।

अत: सिद्ध होता है कि भगवान् निराकार और साकार दोनों है। निराकार का अर्थ पहले भी विस्तार से कहा है कि निकले हैं आकार जिससे, अनेक प्रकार के आकार जिससे निकलते हैं वह निराकार कहा जाता है इसी प्रकार निकलते हैं गुण जिससे वह निर्गुण प्रमाण भागवत- निर्गुण परमात्मा के सत्व, रज, तम ये तीन गुण हैं उत्पत्ति पालन और संहार के लिए माया के द्वारा स्वीकार किया गया है । इस कथन से तो स्पष्ट हो गया कि यदि वह निर्गुण है तो तीन गुण कहाँ से आये अथवा निर्गुण ब्रह्म के गुणों को माया ने कैसे ग्रहण किया ? तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म के तीन् गुण तो माया के द्वारा ग्रहण हुआ और शेष गुण भगवान् में नित्य विद्यमांन हैं अत: यथा स्थिति में अवस्थित थे अत: सगुण ही निर्गुण नाम से कहा जाता है अत: अनन्त रूप वाले अगणित आनन्दमय भगवान् श्रीराम में अपने चित्त को लगाकर ध्यान धारणा समाधि की मुनि लोग महर्षि गण कल्पना करते हैं वे ही सुस्थिर समाधि वाले हो जाते हैं अत: जिस किसी भी स्वरूप में जो अपने को प्रिय हो उस भगवान् के स्वरूप में अपने मन को लगाते हुए मनुष्य कृतकृत्य होता है अन्यथा नहीं, इसीलिए सगुणोपासना को ही अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याणकारी और तत्काल महाफल प्रदान करने वाली कहा गया है निर्गुण अव्यक्त की उपासना वैसी नहीं है । इसके लिए गीता में कहा गया है कि अव्यक्त में जिनका चित्त आसक्त हैं उन लोगों को क्लेश ज्यादा है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष साधनाश्रय सगुण साकार भगवत्स्वरूप के बिना कहीं भी मन सुस्थिर नहीं हो सकता है । साकार परमरमणीय भक्तों की भावना के अनुकूल स्वरूप के बिना मन की स्थिरता असाध्य है इसीलिए मूर्तिपूजा का प्रकार प्रचार किया गया । भगवान् की मूर्ति में पत्थर की भावना नहीं करनी चाहिए और धातु निर्मित प्रतिमाओं में सुवर्ण ताम्र आदि की भावना नहीं करनी चाहिए वहाँ तो वेद मन्त्रों के द्वारा सर्वात्मभाव से आवाहित भगवान् की प्रतिष्ठा की गयी हैं और साक्षात् स्वरूप से चैतन्य

स्वरूप परमात्मा सर्वदा विराजमान होकर भक्तों की इच्छा के अनुसार सभी प्रकार की मानव प्रयुक्त पूजनादि सामग्री संकलन सेवा प्रकार नैवेद्यादि महाभोग और राजभोगादि सब ग्रहण करते हैं सब स्वीकार करते हैं और भोग लगाते हैं पुनः कृपापूर्वक भक्तोपकार के लिए वैसे ही सभी सामग्री को अपना प्रसाद बनाकर वैसे परिपूर्ण अपने अधरामृत से सेवित सर्वतः अधिक स्वाद से परिपुष्ट कर देते हैं भगवान् अपने भक्तजन परिपोषण के लिए ।

यही आराधना युगों-युगों से चली आ रही है जैसे त्रेता युग में भगवान् श्रीराम स्वयं आज्ञा देते हैं विभीषण को कि- हे राक्षसेन्द्र हे महाबल ! मैं दूसरी बात आपसे कहना चाहता हूँ कि इक्ष्वाकु कुल के देवता श्रीरङ्गनाथ जी आपकी आराधना के योग्य हैं । दूसरी बात- रावण तो मूर्ति पूजक परम उपासक था वह सोने की मूर्ति सर्वत्र ले जाता था ।

यथा- **''यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः ।**
जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते ॥''

जैसे राक्षसेश्वर रावण जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ शिवजी का सुवर्ण लिङ्ग ले जाता था । एवं द्वापर में भिल्ल कुमार एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसके सामने शस्त्र विद्या का अभ्यास किया सफलता भी मिली । अतः सभी युगों में सभी काल में मूर्ति पूजा प्रचारित थी परम्परा से आज भी भारत में चल रही है । इसी प्रकार अन्यत्र भी नास्तिकों के घरों में अपने प्रिय किसी पूर्व पुरुष का अपने इष्ट कान्त का चित्र सभी लोग सर्वत्र अपने मनोविनोद के लिए रखते हैं यह भी एक प्रकार से मूर्तिपूजा का ही द्योतक है ।

क्योंकि भगवान् तो जड़ चेतन में अन्तर्यामी रूप से अथवा चराचर जगद् रूप से सब जगह हैं जो कोई किसी पुरुष की, अथवा कामिनी विशेष की, रत्नादिक अथवा धातुमयी प्रतिमा या चित्रपट को रखकर सेवा करते हैं सम्मान करते हैं अथवा उपासना करते हैं वह सब मूर्तिपूजा ही है ।

इस प्रकार मूर्तिपूजा विषयक प्रवचन के बाद श्रीआचार्यचरण ने जनता की भावना को देखकर सनातन सदाचार परिपालन की परिपाटी के प्रति प्रबल इच्छा श्राद्ध क्या है ? इस जिज्ञासा को पूर्ण करने की इच्छा से शास्त्रीय विधि से श्राद्धकर्म का विवेचन शुरू किया- महर्षि मरीचि का वचन

है- जो भोज्य अपने को प्रिय हो उसको प्रेतों और पितरों को उद्देश्य करके जिस कर्म में श्रद्धापूर्वक दिया जाता है उस कर्म विशेष को श्राद्ध कहते हैं । अर्थात् अपने लिए जैसा मधुरातिमधुर भोजन परमप्रिय होता है वही अपने पितरों को उद्देश्य करके जो श्रद्धापूर्वक जिस कर्म में ब्राह्मणों, अग्नि, गायों और अतिथियों को दिया जाता है उस कर्म को श्राद्ध कहते हैं इसी प्रकार ब्रह्म पुराण में भी-विशेष स्थान में विशेष समय पर विशेष पात्र में अपने पितरों को उद्देश्य करके विधिपूर्वक हविष् के द्वारा जो ब्राह्मणों को दिया जाता है उसी कर्म को श्राद्ध कहते हैं दोनों का आशय एक है पितरों की प्रसन्नता के लिए श्राद्ध कर्म किया जाता है ।

श्राद्ध करने में हेतु क्या है ? श्राद्ध क्यों किया जाता है ? इसका स्पष्टीकरण यह है-कि जब जीवात्मा अपने जाने के समय इस पार्थिव शरीर को यहीं छोड़कर जाता है उस समय उस शरीर का भावना प्रधान अनुशय को लेकर ही जाता है उसी अनुशय का दूसरा नाम श्राद्ध है वही अनुशय समय के अनुसार ह्रास को प्राप्त होती है उसकी पूर्ति के लिए उसके पुत्र पौत्रादि के द्वारा जो किया जाता है उसके उद्देश्य से ब्राह्मण भोजन और पिण्डदानादि कर्म किया जाता है । वही श्राद्ध है उसी कर्म का नाम श्राद्ध है ।

श्राद्ध भी दो प्रकार का होता है- (१) सपिण्ड (२) पिण्डरहित । पिण्डों के द्वारा पूर्वजों के शरीर की न्यूता दूर किया जाता है । चन्द्रादि लोक में अथवा पितृलोक में जो पितर रहते हैं और जो वहाँ रहकर कामना करते हैं अपने पुत्र पौत्रादि के द्वारा प्रदत्त अन्नतोयादि तिलाञ्जलि आदि श्राद्धान्नादिकी) उनके अक्षय तृप्ति के लिए ही श्राद्ध का विधान है अत: वेदादि की आज्ञानुसार तत्तत्कुल में उत्पन्न सन्तान सभी के शारीरिक आदि सम्पत्ति की पूर्ति के लिए श्राद्ध का आचरण करती है तथाहि- भौतिक शरीर त्याग के बाद शरीर को अग्नि में जलाने के बाद पितरों के कुछ भी करने में असमर्थ होने पर सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होने पर भी क्रमश: प्रकृतिजन्य हानि तो होती है उसकी पूर्ति करने में वे तो असमर्थ है अत: अपने पुत्र पौत्रादि के द्वारा दिये जलादि की अपेक्षा करते हैं अत: पुत्र पौत्रादि पिण्डदान अन्नादि के द्वारा उस क्षति को पूरा करके अपने-अपने पितरों से प्रार्थना करते हैं । कि हे पितृ लोक में गये पितरगण ! आप लोगों का यहाँ का पाञ्च भौतिक शरीर अग्नि के द्वारा यहीं भस्म कर दिया गया है अब आप सब पितृलोक में

स्थापित हैं पुनः आप लोगों के सूक्ष्म शरीर को इस पिण्डादि प्रदान से सर्वांग सम्पूर्ण कर रहा हूँ अतः आप लोग सर्वाङ्ग परिपुष्ट होकर स्वर्ग लोक में प्रसन्नतापूर्वक रहिए । यहाँ यह रहस्य है- सत्तरह तत्त्वों का शरीर धारण करके पितर लोग अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप यथायोग तथा तपस्या के अनुरूप अपने-अपने बुद्धि, प्राण, मन प्राण की प्रबलता से किसी भी जैसे देवयान से अथवा पितृयान से अर्चिरादि मार्ग से अथवा धूमादि मार्ग से जब जाते हैं सूर्य चन्द्रादि लोकों को अथवा पितृलोक को तब उनके मध्य में जो योगी होते हैं तपस्वी या संन्यासी होते हैं और जिनकी बुद्धि, बुद्धित्व या बुद्धिस्थ प्राण प्रबल होता है वे तो साक्षात् अपने बुद्धिस्थ प्राण के अग्निरूप होने से तैजस होने से अपने समष्टि तेजः पुंज सूर्य के प्रति आकृष्ट होकर जब जाते हैं तो वे भी तेजोरूप होकर सूर्य के समीप जाते हैं वहाँ उनके लिए सोम की न्यूनता नहीं होती है इस लिए वे पितर अपने पुत्रादि से पिण्ड दानादि श्राद्ध की कामना नहीं करते हैं और न ही उनको भूतों में वायु आदि कोई भी मार्ग में रोक सकता है सूर्य के साक्षात् आकर्षक होने से । इसीलिए दण्डी, संन्यासी विरक्त सन्तों के लिए दशगात्र पिण्डदानादि की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु जो मनस्तत्व प्रधान हैं वे लोग सोम से आकृष्ट होकर स्वसमष्टि भूतचन्द्र सोम प्रधान के प्रति जाते हैं वे धूमादि मार्ग से पितृयान मार्ग से जाते हैं तब रास्तें में वायु के प्राबल्य होने से वायु के प्रभाव में आकर पतित होकर ह्रसित सोम भाग वाले हो जाते हैं विलम्ब से सोम का आकर्षण को प्राप्त होने से पितर लोग सोम की कामना करते हुए पुत्र और पौत्रादि से प्रदत्त सोम प्रधान अन्न की कामना करते हैं तण्डुल, दुग्ध घृतादिमय सोम प्रधान अन्न की कामना करते हैं अतः उनके लिए पिण्ड प्रदानपूर्वक श्राद्ध अवश्य करना चाहिए ।

इसलिए मरने के बाद जीवात्मा के गमन काल में पितृलोक प्राप्ति से पहले भू और वायु का प्रभाव उनके मार्ग का अवरोधक होता है उनका सोमभाग पहले ही न्यून है अतः सोम के अल्प होने से अल्प शक्ति हो जाते हैं अतः भू और वायु के प्रभाव को रोक नहीं पाते हैं अतः उनके सोमभाग को प्रबल करने के लिए पुत्रादि सोम प्रधान पिण्ड प्रदान द्वारा क्रियाकर्म करते हैं । उससे प्राप्त शक्ति से युक्त सबल होकर भू और वायु के प्रभाव का विधूनन करके सद्यः चन्द्र से आकृष्ट होकर चन्द्रलोक में स्वसमष्टि सोम

के चारों तरफ स्थित पितृलोक में वे सुखपूर्वक जाते हैं । और वहीं प्रत्येक श्राद्ध में पुत्रादि प्रदत्त अन्नादि प्राप्त करते हैं अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा की किरणों से समाकृष्ट होकर अथवा वायु के द्वारा उपनीत तत्ततत्पिंड से उद्‌भूत श्राद्धीय अन्न जन्य सोमरस अथवा तत्तन्नाम गोत्रोच्चारणपूर्वक पुत्रादि प्रदत्त अखिल अन्न तिलाञ्जलि सद्यः सोमरस तत्वभूत होकर सकल विश्व व्यापक सोमतत्त्व से सम्पृक्त समुद्र में जैसे गंगाजल एकरूप हो जाता है वैसे ही विद्युत्तरंग धारा की तरह सर्वत्र तत्काल व्याप्त उसी क्षण ही उन-उन पितरों को प्राप्त हो जाता है विश्वव्याप्त वायु सूर्य चन्द्र की किरणें तत्तत्पितरों को उसी क्षण देते हैं । जैसे जीवात्मा जिन सूर्यादि की किरणों से समाकृष्ट होकर जैसे उन-उन लोकों को जाता है वैसे ही उन्हीं किरणों से समाकृष्ट सोमरस भी वहाँ-वहाँ स्थित पितरों को दिया जाता है इसलिए पित्रादि सम्बन्धी श्राद्धादि सोमरस के उत्पादक होते हैं सोम प्रधान होते हैं अतः श्राद्धादि पर चन्द्र का अधिक सम्बन्ध है चन्द्रादि मास क्रम से ही तिथियों की स्थिति है उसके अनुसार जिन तिथि में जिसका पार्थिव शरीर का त्याग होता है उसी तिथि में भारतीय ज्योति गणनानुसार चन्द्र की वैसी स्थिति तथा वैसा ही अंशादि सभी उस महिने की उसी तिथि में उसी क्षण में पुनः सम्मिलित होंगे । जिनमें उस जीवात्मा का प्राण निकला था । अतः उस महिने की उसी तिथि में सभी योग चन्द्रमा से संगत होंगे अतः पितरों का अधिष्ठाता चन्द्र, सोम, सोम के अधिदेव हैं सोम प्रधान कर्म में उनका ही अनुरोध मान्य है जिससे चन्द्र किरणों से आकृष्ट सोम चन्द्र मण्डल में विद्यमान पितरों से मिलता है अतः उसी तिथि में श्राद्ध पिण्ड दानादि करना चाहिए अंग्रेजी तारीख में नहीं यह विशेष ध्यान देना चाहिए ।

यहाँ पितरों का श्राद्धकर्ता के साथ क्या सम्बन्ध है यह पहले ही परिच्छेदों में दिखाया है फिर भी यहाँ संक्षेप में निर्देश करते हैं कि सभी पुरुषों में अपने-अपने पिता पितामहादि का अंश होते हें उनमें भी चौरासी अंशों को लेकर ही जन्म प्राप्त होता है । उन अंशों में २८ अंश तो अपना ही उसमें होता है । शेष ५६ अंशों में २१ अंश पिता का, १५ अंश पितामह का, १० अंश प्रपितामह का, ६ अंश वृद्ध प्रपितामह का, ३ अंश वृद्धतर प्रपितामह का, १ अंश वृद्धतम प्रपितामह का इस क्रम से न्यून से न्यूनतर होते हुए पूर्ण संख्या वाले दश संख्यक पिण्ड रूप संख्या में दश से कम नहीं होना चाहिए

इसीलिए घनीभूत १० संख्याशों की पिण्ड संज्ञा प्रपितामह का ही होता है । पिण्ड दान प्रपितामह पर्यन्त तीनों पुरुषों के लिए अर्थात् पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए होता है ये तीन ही पिण्ड के भागी हैं उनका ही पिण्ड संख्या अंशों में होता है और शेष पितरों के लिए पिण्ड के स्थान पर लेप होता है लेपमात्र से ही वे तृप्त हो जाते हैं वे पिण्ड दान की कामना नहीं करते हैं अतएव अपने अंशज पुत्रादि से प्रदत्त पिण्डों को अपने-अपने नामगोत्र उच्चारणपूर्वक गयादि तीर्थों में श्राद्धादि में अपने-अपने मरणतिथि में महालय श्राद्धादि में विहित पिण्ड दानादि को पितर लोग सूर्य किरणों के द्वारा तत्काल ग्रहण करते हैं सोम भूत उनको प्राप्त कर तृप्त हो जाते हैं ।

वहाँ पितर पाँच प्रकार के होते हैं (१) अग्निष्वात्त (२) बर्हिषद, (३) सोमप, (४) आज्यप और (५) ऊष्मप । जो नित्यमुक्त हैं और जो अपने तपोबल से चन्द्रादि लोकों को छोड़कर सूर्य मण्डल का भी भेदन करके परमेष्ठि मण्डल चले गये हैं बैकुण्ठ गोलोक, नित्य साकेत धाम के वासी हो गये हैं अपने सप्तम पुरुष वृद्धतम प्रपितामह से भी ऊपर अष्टम से भी आगे के हैं पूर्वपुरुष तो अपने वंशजों से प्रदत्त श्राद्धादि किसी की भी इच्छा नहीं करते हैं । उन नित्य सोम पीने वालों के लिए श्राद्धादि जन्य सोम की आवश्यकता होती ही नहीं है और न ही उनका सोम क्षीण होता है किन्तु चन्द्र मण्डलस्थ अथवा तत्पार्श्वस्थ अथवा पितृलोक में स्थित स्वर्गस्थ पितर भी अपनी सन्तानों से उनके द्वारा प्रदत्त श्रद्धापूर्वक किये गये श्राद्धान्न से उद्गत सोम को चाहते हैं- इसमें प्रमाण वेद ।

जो दिव्य पितर हैं वे नित्य मुक्त बैकुण्ठवासी, कैलास, नित्य साकेत वासी, गोलोक में रहने वाले नित्य लीलाश्रित हैं अग्निष्वात्त, बर्हिषद और सोमप । शेष आज्यप और ऊष्मप पितर लोग चन्द्र अथवा चन्द्र के समीप के लोक में पृथिवी और चन्द्रमा के मध्य में कहीं रहते हैं पितृलोकादि में । जो लोग अपने गोत्र में उत्पन्न लोगों से सोम की आकांक्षा करते हैं उसको प्राप्त हो जाने पर पुत्रादि को आशीर्वाद देते हैं महर्षि अंगिराका वचन हे कि पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्धकर्म से तृप्त होकर पितर लोग अपनी सन्तान का स्वास्थ्य वीर्यादि समृद्धि का विस्तार करते हैं ।

अत: सनातन धर्मावलम्बियों को अवश्य श्राद्ध करना चाहिए अन्यथा दोष होता है जैसे जहाँ श्राद्ध नहीं किया जाता है वहाँ वीर पुरुष नहीं उत्पन्न

होते हैं । वहाँ निरोग नहीं होते हैं वहाँ शतायुष् पुरुष नहीं होते हैं और न ही वे कल्याण को प्राप्त होते हैं ।

किञ्च- सूर्य के कन्या राशि में चले जाने पर जो गृहस्थ श्राद्ध कर्म नहीं करता है उसके घर में उसके पितरों के नि:श्वास से पीडित धन पुत्रादि कैसे रह सकते हैं अत: अपने घर धन धान्य एवं पुत्रों के कल्याण के लिए अवश्य श्राद्ध कर्म करना चाहिए । यद्यपि गतानुगतिक पितर अपने-अपने कर्माशय के अनुसार यदि पुनर्जन्मादि ग्रहण कर लिये और जहाँ कहीं जिस किसी कुल में मनुष्य योनि में, पशु पक्षि आदि योनि में जन्म लिया हो अथवा अपने द्वारा किये गये उत्तम कर्मों के अनुशयों के द्वारा स्वर्गादि में सुप्रतिष्ठित हों, वहाँ भी हम लोगों के द्वारा सत्संकल्प से जन्य श्रद्धा से किया गया हवन, दान, हव्य एवं कव्य वहाँ-वहाँ स्थित अपने-अपने पितरों को तत्तत्पुत्र पौत्रादि से प्रदत्त तत्तन्नाम गोत्र उच्चारणपूर्वक विसृष्ट अन्नादि जन्य सोम भूत रस सूर्य किरणें प्रदान करती है । देवल स्मृति में- यदि शुभ कर्मों के कारण पिताजी देवता हो जाते हैं तो श्राद्धान्न उनको अमृत रूप में प्राप्त होता है गन्धर्व होने पर भोग्य रूप में, पशु होने पर तृण के रूप में, नाग सर्पादि होने पर वायु रूप में, यक्ष होने पर पान के रूप में, राक्षस होने पर आमिष के रूप में दानव होने पर मदिरा के रूप में, प्रेत होने पर रुधिर और अशौच जल के रूप में तथा मनुष्य होने पर अन्नपानादि नानाभोग रस के रूप में पितरों को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार सर्वत्र सभी स्थितियों में, सभी लोक में, सकल योनि में जाने वाले पितर अवश्य प्राप्त करते हैं । श्राद्ध में हवन किया गया कव्य को अग्निदेव ही सभी स्थिति को सेवन करने वाले पितरों को प्राप्त कराते हैं तत्तत्पुत्रादि प्रदत्त सकल अन्नादि को । उसी प्रकार पुत्रों के द्वारा अग्नि की प्रार्थना की जाती है- ये निखाता: ये परोप्ता: ।

इस मन्त्र से अग्नि स्वयं उनको बुलाकर देते हैं ।

किञ्च- हे अग्निदेव ! स्वर्ग में विद्यमान हमारे पितरों को तथा विध शरीर से सम्पन्न करके प्राण युक्त करके मेरे प्रदत्त इन अन्नादि हव्य कव्य को उनको प्राप्त कराओ ।

एवं यजुर्वेद में भी हे हमारे द्वारा बुलाये गये श्रद्धापूर्वक प्रार्थित आये हुए हमारे पूर्वज पितर और हमारे अनुज पुत्रादि वा जो पितरों के साथ संगत एवं सम्यक् आहूत होकर आये हैं वे सभी अदृश्य रूप से उपस्थित होकर श्रद्धापूर्वक प्रदान किया जो भी पार्थिव पदार्थ रजो गुण विशिष्ट है उसे आप सब स्वीकार करें एतदर्थ आपके द्वारा अनुगृहीत होकर हम लोग कृतकृत्य हो गये । श्राद्ध में प्राय: ब्राह्मणों को ही निमन्त्रित किया जाता है वे भी वेदवेत्ता, कर्मकाण्डी, सन्ध्या तर्पण बलिवैश्वदेव करने वाले हों । पहले दिन श्रद्धापूर्वक उन्हें निमन्त्रित करें । निमन्त्रित ब्राह्मणों में निमन्त्रण देने वाले के पितर गण पहले दिन ही प्रवेश कर जाते हैं उसके बाद दूसरे दिन श्रद्धापूर्वक परोसे गये अन्नादि को सब ग्रहण करते हैं और तृप्त होते हैं इसमें स्मृति प्रमाण है उन निमन्त्रित ब्राह्मणों में पितृगण सूक्ष्माति सूक्ष्म शरीरों से दिव्यात्माओं से प्रविष्ट होकर प्रेमपूर्वक अपने पुत्रादि के द्वारा परोसे गये श्रद्धाभक्ति समन्वित अन्न पानादि को स्नेहपूर्वक उल्लास के साथ उपभोग करते हैं और तृप्त होते हैं भोजनान्ते दक्षिणा और भेंट सामग्रियों से पूजित ब्राह्मण जब अपने घर जाते हैं तब वे पितर भी अपने पुत्रों को आशीर्वाद वरदानादि से सन्तुष्ट करके अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं ।

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वाल्मीकिरामायण में- जब श्रीरामजी श्रीचित्रकूट में अपने पिता दशरथ जी के श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन करा रहे थे उस समय श्रीजानकीजी सोल्लास विविध अन्नों से भरी थाली अपने हाथ में लेकर परोस रही थी ब्राह्मणों को, उसी समय ब्राह्मणों में ही महाराज दशरथ जी का साक्षात् दर्शन हुआ तत्पश्चात् वह तत्काल लज्जा से सिर नीचे करके घुंघट डालकर कुटी के अन्दर चली गयी । तब श्रीरामजी ने विस्मयपूर्वक कहा- हे राजपुत्रि ! ऐसा क्यों ? ऐसा रामजी के पूछने सीताजी ने कहा- हे राघव ! ब्राह्मणों के श्री अंग में आपके पिताजी के दर्शन हो रहे हैं । इसी तरह पद्म पुराणमें कथा आती है । आयुर्वेद में भी जो सोम है वह ब्राह्मणों में प्रविष्ट हुआ । अर्थात् यदि कदाचित् निमन्त्रित ब्राह्मणों में कर्मवशात् अथवा किसी दूसरे कारण से पितृगण प्रविष्ट नहीं हुए उस समय

भोजन के अवसर पर उपस्थित नहीं हुए । तब स्वयं सोम अपने किरणों से ब्राह्मणों में प्रवेश करके श्राद्ध जन्य सोम को वहाँ से लेकर साक्षात् वहाँ ले जाकर उन पितरों तत्काल देता है अथवा अग्नि में हवन किया गया कव्य भाग को स्वयं अग्नि वहाँ ले जाकर उनको देते हैं क्योंकि भागवत में कहा है कि 'भगवान् विष्णु और सभी देवताओं का मुख ब्राह्मण और अग्नि है । उनके द्वारा तत्काल पितर भी श्राद्धीय अन्न पानादि प्राप्त कर लेते हैं ।

किञ्च श्राद्धादि करने में साक्षात् अधिकार पुत्रों का है उसके अभाव में दूसरे भाई बन्धु बान्धवों का है क्योंकि पितृ-पितामह-प्रपितामहों के क्रम से २१, १५, १० अंश होते हैं पुत्रों में अत: पुत्र पौत्रादि ही श्राद्ध के उत्तम अधिकारी हैं ।

सत्तावनवाँ परिच्छेद

इस प्रकार सभी लोगों के मन को सन्तुष्ट करके समीप में विराजमान सकल सुर, असुर नर किन्नरों से स्तूयमान है महिमा जिसकी ऐसे भगवान् जिनके युगल चरणों की आराधना शैलपुत्री पार्वती जी करती हैं जो जगत् के मनोरथ को पूर्ण करते हैं जो प्रतिदिन बढ़ने वाले हैं ऐसे हिमलिङ्गविग्रह श्रीअमरनाथ जी के दर्शनार्थ ही काश्मीर से प्रस्थान करके साधु मण्डली से विभूषित स्वामी जी,

काश्मीरोद्भव कुङ्कुमाऽरुणलसत् सौरभ्यलुब्धाऽलिसद्-
भक्ताऽऽराधित पाददपमयुगलाः सन्तर्पिताऽऽराधकाः ।
वाङ्माधुर्य्य समेधितादभुत रसानन्दोच्छलच्छीतल-
स्वान्तान् भक्तवरान् प्रतोष्य समगुः सम्मानिताः स्वामिनः ॥

काश्मीर के केशर तिलकों से सुशोभित और जगद्गुरुजी की गरिमा से रससिक्त कश्मीर के भक्तों द्वारा पद पंकजों की सेवा किये जाने के अनन्तर अपने आराधकों को अपने उपदेशों से सन्तृप्त कर समस्त भक्तों के हृदयों को अपनी वाणी के माधुर्य से प्रकटीभूत उपदेश रसों से सिक्तकर तत्रत्य समस्त जनता को सन्तोष प्रदान कर सब तरह से सम्मान प्राप्त कर स्वामीजी महाराज ने वहाँ से प्रस्थान किया ।

निरन्तर हिमवृष्टि से समुल्लसित है आकार जिसका जो निराकार होते हुए भी जगदाधार हैं जो विश्वमूर्ति होते हुए भी अष्टमूर्ति हैं ऐसे अमरनाथ भगवान् की सेवाराधना करके लौटकर सिन्धु देश जाने की इच्छा से युक्त हो गये वहाँ आकर वहाँ के लोगों में भगवान् की भक्ति भावना को देखकर सन्तुष्टमना होकर भी वहाँ के लोगों के दोषानुरूप आचार विचार विवेक विचित्र चरित्र कर्म एवं दया दाक्षिण्यादि अनिन्दिताचरण का शोषण देखकर कुछ क्रुद्ध से होते हुए सद्भक्तिचयनानन्द के प्रसार के लिए सदाचार के प्रचार के लिए सर्वदा आहार-विहार की संशुद्धि प्रकार का उपदेश देने के लिए और उन लोगों में धार्मिक रहस्य विज्ञान से विजृम्भित सद्भावना को सम्यक् रूप से भरने की इच्छा से सिन्धु देश के एक स्थान पर विराजमान

होकर ''सर्वत्र ही अपने आहार की शुद्धि के लिए ही विचार करना चाहिए'' यह लक्ष्य बनाकर अपने प्रवचन का विषय इसको बनाया ।

वहाँ सबसे पहले आहार फिर आहार से जन्य विवेक विचार कैसा होता है यह सोचना चाहिए हे श्रद्धालु विवेकशील श्रोताओं ! मनु जी ने कहा है- सभी पवित्रताओं में अन्न की पवित्रता श्रेष्ठ है जो अन्न की दृष्टि में पवित्र है वही पवित्र है मिट्टी और पानी से होने वाली पवित्रता वास्तव पवित्रता नहीं है । महाभारत में भी लिखा है- सदाचार को ही सभी धर्मों में अत्यन्त गुरु मानना चाहिए ।

दूसरी जगह भी- सदाचार ही परम धर्म है वही सर्वोत्कृष्ट तप है सदाचार का फल भी- सदाचार से आयु बढ़ती है और सदाचार से पाप का नाश होता है किञ्च- सभी लक्षणों से हीन होने पर भी जो सदाचारी है श्रद्धालु है और दूसरे में दोष नहीं देखता है वह सौ वर्षों तक जीता है । आयुर्वेद में भी- जो सदाचार का पालन करता है वह आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश और शाश्वत लोकों को प्राप्त करता है ।

अत: सत्पुरुषों के आचरित सदा आराधित शुभाचार सर्वदा सर्वत्र अभीष्ट फल को प्रदान करने वाला है। सदाचार के द्वारा ही मानव मानवातीत, योगियों के ध्येय और ध्यान से गम्य भी भगवान् को भक्ति से अपनी गोद में लालित, दुष्टजन संहारी को निज मनोविहारी कर सकते हैं । वहाँ सर्वदा सात्विक भावों से अथवा सात्विक विचारों से और सात्विक ही आहारों से युक्त रहना चाहिए । सात्विक आहार भी शास्त्रोक्त ही ग्रहण करना चाहिए जैसा कि गीता में- आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला, रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय ऐसे आहार भोजन करने के पदार्थ सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं । और- कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं । एवं जो भोजन अध पका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, वासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है तामसी भोजन तो सर्वथा त्याग देना चाहिए । भगवान् के भक्तों को सदा ही सात्विक भोजन ही करना चाहिए जो मधुर चिकनाई से युक्त हो । जो अमेध्य, अग्राह्य, मद्य, मांस से युक्त, दुर्गन्ध से युक्त लहसुन

और प्याज से संयुक्त भी भोजन सात्विक लोगों को त्याग देना चाहिए । वैसा भोजन न करें जिससे भगवान् के भजन में बाधा उपस्थित हो ।

अत: भगवत्सेवा में वैष्णवों के घर में प्राय: मधु मधुर, घृत, दुध, शर्करा मिश्रित चावल, गेहूँ चनादि से निर्मित पकवान पदार्थ ही भगवान् को समर्पित किया जाता है और स्वयं वैष्णवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है । सात्विक भगवद्भक्त तो स्वप्न में भी मद्य मांस और मछली न ग्रहण करते हैं न स्पर्श करते हैं फिर खाना तो बहुत दूर की बात है और जिस में पर्याप्त मात्रा में दुर्गन्ध भरा है जैसे प्याज लहसुन आदि उत्कट दुर्गन्ध वाले भोजन को भी नहीं छूते हैं अत: ऐसे खाद्य का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

उस समय मद्य मांस दुर्गन्धयुक्त अन्न दूषित अन्न को उन तामसी लोगों ने संगृहित किया था । सात्विक लोगों को ऐसा भोजन त्याग देना चाहिए हर प्रकार से । यह सुनकर कोई तान्त्रिक कहने लगा ।

तान्त्रिक- आपने मद्य मांस को त्याज्य कहा पर आदि काव्य में आपके पूर्वाचार्यों ने वर्णन किया है- वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी लक्ष्मण से कह रहे हैं क्या आपने उसको नहीं देखा ? (मृग) का मांस लाकर उसके द्वारा वास्तु पूजन आदि गृहकृत्य पूर्ण करेंगे । यहाँ स्पष्ट ही अपने पर्ण कुटीर के वास्तु पूजा में मृग मांसादि के लिए आदेश दिया है लक्ष्मण को श्रीराम ने । और जटायु की और्द्धदैहिक क्रिया को करते हुए मांस पिण्ड ही जटायु के लिए पिण्ड दान दियो है ।

स्वामीश्रीरामानन्दाचार्य- भगवन् हे गोस्वामिन् ! आप सच में गोस्वामी है यह स्पष्ट है क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में जिस प्रसङ्ग में त्रिकालज्ञ मुनि भगवान् वाल्मीकि ने श्रीराम के विषय में जो लिखा है उसका पूर्वापर सम्बन्ध को बिना विचारे मनमानी अनर्गल अज्ञान विजृम्भित अर्थ आपने किया, उस समय वन गमन के समय सत्यप्रतिज्ञ एवं स्वप्न में भी अन्यथा आचरण न करने वाले श्रीराम की प्रतिज्ञा कैसी थी यह सब आपने पहले विचार नहीं किया फिर विवेकशून्य मतिवालों की तरह सुकृती होते हुए भी ऐसा क्यों कहा कि- रामायण में ऐसा लिखा है इति । ऐसा लगता है कि आँखों के साथ-साथ दोनों कानों को भी आपने सफल कर दिया है इसीलिए तो अनर्गल प्रलाप जन्य पातक पङ्क की वृद्धि कर रहे हैं ।

भगवन् ! कर्णकुहरों के मल को हटाकर इस तथ्य को पुनः सुनिये जब श्रीरामजी वन जाते समय अपनी जननी के समक्ष कहते हैं- कि मैं महात्माओं की तरह आमिष का सर्वथा त्याग करके कन्दमूल और फलों के द्वारा जीवनयापन करता हुआ निर्जन वन में चौदह वर्ष तक निवास करूँगा। दूसरी बात, श्रीराम कोई भी बात दो बार नहीं बोलते हैं यह उनकी प्रतिज्ञा है। बिना किसी आग्रह के स्वमन:संकल्पित अपनी प्रतिज्ञा को छोड़कर स्वयं ही भगवान् वन में अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध मांस मद्यमय दुर्भक्ष्य को क्यों स्वीकार करेंगे ? मुनियों का भोजन ऐसा नहीं होता है तो मुनि जैसे रहते हुए वे अभक्ष्य को कैसे स्वीकार करेंगे ? और सुमन्त्रजी के द्वारा अपना सन्देश पिता के समीप भेजते समय भी भगवान् ने वैसे ही पूर्ववचनों को याद करते हुए कहा- कन्दमूल फल खाते हुए धर्म का ही आचरण करूँगा। जगह-जगह पर समय-समय में वैसा ही भोजन क्रियाकलापों को करते हुए श्रीलक्ष्मण जी को पशुहिंसात्मक कर्म करने की आज्ञा कैसे देंगे। विवेकी कोई भी ऐसा नहीं सोच सकता है जो रामायण में लिखा है उसका तात्पर्य इस प्रकार है।

हे लक्ष्मण ! हम लोग एण सम्बन्धी शुभासन अर्थात् मृग चर्म पर वायव्यात्मक प्राणायाम वायु का कुम्भक रेचकादि क्रम से वायुतत्व शोधनपूर्वक प्राणायाम करके तत्पश्चात् अपनी प्रतिमूर्ति लक्ष्मी स्वरूपा श्रीसीताजी अथवा परमतत्त्वस्वरूप अपने को ही अपने मन में धारण करके तेजोबलमयी तत्वत्रययुक्ता मेरी अपर स्वरूपा आधिदैविकस्वरूपा श्रीसीताजी को वायु तत्त्व के साथ संयुक्त करके अथवा अपने प्राण के साथ अपने प्राणों को भी अपनी आत्मा में संयुक्त करके सीताजी के साथ अपने प्राणों को भी स्वरूप के साथ मिलाकर परब्रह्म में एक करके आध्यात्मिक रूप से विराजमान मुझसे अभिन्न श्रीस्वरूपिणी अथवा तेजस्वरूपा अग्निस्वरूपा को अग्नि में प्राणाग्नि में प्राण रूप अग्नि को मिला कर और ऐसे विचित्र और अत्यन्त अद्भूत सभी के दृष्टि का विषय लोकदृष्टि से भी अगम्य कर्म करने में प्रवृत्त वायुतत्वात्मक प्राणस्वरूप परमतत्व मुझको आकृष्ट करके अपने हृदय में संस्थापित करके सर्वशक्तिमान् मुझको विशेष चिन्तन करके अथवा मुझसे अभिन्न श्रीजनकनन्दिनी को समझकर सर्वदा एक रूप में ध्यान करके लौकिकदृष्टि से भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हम तीन अथवा श्रीसीताजी को

अपनी अन्तरात्मा में स्थापित होने पर भी पृथक् रूप से पृथिवी पर चलती हुई की तरह भौतिक स्वरूप से बाहर विराजमान को दिखाकर इस पर्णशाला की उपासना करेंगे अर्थात् त्रिविध स्वरूपा एवं आधिदैविक रूपिणी सात्विकी सीताजी को मैं ही अपनी आत्मा में छिपाकर बरत रहा हूँ । आध्यात्मिकी लक्ष्मी स्वरूपिणी स्वतेजोमयी राजसी को यज्ञाग्नि में प्रवेश कराकर तत्पश्चात् आधिभौतिक तामसी लोक दृष्टि से मेरी पत्नी सीता को अपने अवतार स्वरूप श्रीराम के साथ संस्थापित करके हर प्रकार की लीला सामग्रियों को संस्थापित करके पुनः लौकिक लीला का समाहार करके यज धातु के अर्थों का अनुष्ठान करेंगे । अर्थात् रावणादि दुष्ट दानवादि के वधादि से उपकार देवताओं का करके, देव द्रोही राक्षसों, दुष्ट दैत्यों को मारकर उनके द्वारा छिने गये सभी प्रकार के बलपूर्वक छिने गये राज्यादि का दान करके अथवा विभीषण आदि शरणागत परमभक्तों को प्रत्यक्ष लंका दान करके तत्पश्चात् राजसूय यज्ञारम्भ के बहाने और सभी प्रकार के यज्ञों के द्वारा और राजसूयादि यज्ञ से यजन करेंगे अथवा विश्वमयीशाला या स्वलीलास्थली की सेवा करेंगे इत्यादि रहस्यमय अर्थ का सुगोप्य कराने के लिए ही वैसा भ्रामक पद प्रयोग के द्वारा परोक्ष अर्थ के गोपन के लिए ही महर्षि वाल्मीकि ने वैसा लिखा है क्योंकि देवताओं को परोक्ष प्रिय होता है इस भागवत वाक्य से । उसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है जैसे ऐ, णे, यं, मां, सं आहृत्य ऐ सम्बोधन है हे प्रिय लक्ष्मण ! जल में अथवा जलकुम्भ में तात्पर्य वरुण । मेदिनीकोश के अनुसार ण का अर्थ पानी से भरा कलश है । य=वास्तुपुरुष, मा=लक्ष्मी, अम्बा दुर्गा भगवती आदि अमरकोश- मा का अर्थ लक्ष्मी, लोकमाता है सं- सर्पाकार वास्तुविशेष (हे वास्तुपुरुषों ! आपको नमस्कार है भूशय्या में अभिरत आहृत्य=वास्तुपूजा के उपयोगी सर्वदेवमण्डल स्थापित करके उसके बाद पर्ण कुटीर को ही यज्ञशाला बनायेंगे अर्थात् तत्तन्मन्त्रों के द्वारा उनकी सविधि स्थापना करके उनकी पूजा करेंगे ।

इसी प्रकार मृगं हत्वानय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण इस वाक्य का भी पूर्ववत् परोक्षार्थ है । मदन पाल निघण्टु के अनुसार मृग शब्द का अर्थ पशु, हिरण, गजकन्द और गद है । एवं मृग शब्द का प्रयोग हरिण, गजकन्द, मृगी रोग में होने से यह नानार्थक शब्द है अतः मृग का तात्पर्य गजकन्द, उसको उखाड़कर जल्दी ले आओ क्योंकि तुम शुभ कर्माभिज्ञ हो, कहाँ किस **वस्तु**

की अपेक्षा है मुनिव्रतियों का क्या अभिप्राय है यह सब जानते हो। और नाम से भी लक्ष्मण हो कन्दादि के सभी लक्षणों को जानते हो।

इसलिए ले आने में भी तुमसे विलम्ब की आशंका नहीं है अत: शीघ्र ही ले आओगे अथवा सर्व प्रकार की सुव्यवस्था को करोगे इसीलिए तुमसे कहा है। सद्य: उस प्रकार की सभी व्यवस्था को करो। यह श्रीराम का कथन है उसके बाद श्रीलक्ष्मण जी- स लक्ष्मण: कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्'' और अथचिक्षेप सौमित्रि: समिद्धे जातवेदसि वा. रा. अयो. ५६-२७। ततु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् इति इन श्लोकों का प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ तो यह है- प्रतापी लक्ष्मण ने मेध्य कृष्ण मृग को मारकर जली हुई आग में फेंक दिया और अग्नि में तप्त छिन्नशोणित उसको पका समझकर ले आये इति। यह साधारण लोगों की बुद्धिमय लौकिक अर्थ है किन्तु देवताओं को परोक्ष प्रिय होता है अत: निष्टप्त शब्द एक बार अग्नि सन्ताप देने अर्थ में प्रयोग होता है। इससे भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि गजकन्द ही एक बार अग्नि ताप सहता है न कि मरा हुआ पशु मृग। और तीक्ष्ण ऊष्म सन्ताप मात्र से परिपक्वता तो गजकन्द में ही आती है मांसादि में तो सम्यक् प्रकार से उबाला जाता है न कि एक बार सन्ताप। इसी प्रकार छिन्न शोणितम् इसका भी अर्थ रक्तपित्तादि जन्य रोग विशेषादि नष्ट होते हैं जिससे उसे छिन्न शोणित कहते हैं अर्थात् रक्त शोधक रक्त विकार नाशक को छिन्न शोणित कहते हैं। क्योंकि कन्दमूलादि का उष्ण भस्म सन्ताप से ही परिपाक होता है यह लोक प्रसिद्ध है यही परोक्ष अर्थ यहाँ इष्ट है आसुरी प्रवृत्ति के जीवों को व्यामोहित करने के लिए वैसा प्रयोग दीर्घदर्शी मुनि ने किया है। दूसरी बात मरे हुए पशुओं में तो परिपाक काल में लेशमात्र भी रुधिर नहीं होता है वध के समय में ही रक्त निकल जाता है।

दृढ़ प्रतिज्ञ श्रीराम मुनिव्रत धारण करने वाले फल मूल का भक्षण करता हुआ मैं धर्म का ही आचरण करूँगा ऐसा कहने वाले तीनों ही ऐसे नृशंस कर्म करने को कैसे तैयार होंगे ऐसी विवेचना करके ही परोक्षार्थ का प्रदर्शन मुनि ने किया परोक्ष प्रिय होने से।

और इसी प्रकार भगवान् श्रीराम की आज्ञानुसार वैसा करके श्रीलक्ष्मणजी भी वैसा ही प्रच्छन्न परोक्ष प्रवृत्ति वाले पदों से उत्तर देते हैं- यह सर्वाङ्ग सम्पन्न कृष्णमृग मेरे द्वारा पकाया है। यहाँ भी सर्वाङ्ग कृष्णमृग

सर्व:श्रृत: भुना गया उखाड़ा गया, पकाया गया इत्यादि पदों से समग्र परिपाक गजकन्द का ही होगा न कि कृष्ण मृग का । मृग के समस्त अङ्गों में सींग शफादि का भी ग्रहण होता है परन्तु उनका कहीं भी पाक नहीं होता है और न ही भोजन में उसका उपयोग होता है अत: उस अर्थ का कथन व्यर्थ होगा अत: कन्द तो सर्वावयव परिपक्व होकर ही देव यजन के उपयोगी होता है यदि किसी भी अंश में अपक्व रहा तो रक्त विकार को बढ़ायेगा अथवा पूरे शरीर खुजली पैदा करेगा । अत: मृगपद से गजकन्द का यहाँ प्रयोजन है मृगपशुमांसादि का ग्रहण नहीं । भगवान् राम ने आज्ञा देते समय ही वैसे विशेषणों से लक्ष्मण को प्रतिबोधित करते हैं हे लक्ष्मण शास्त्रानुरूप ही विधि करना हमेशा धर्म को याद रख । इन विशेषणों से पूर्व में की गयी प्रतिज्ञा का ही स्मरण कराते हैं रामजी । कन्दमूलफलों के द्वारा जीवित रहते हुए मुनिव्रत का पालन करूँगा । मुनियों की तरह मांसादि का त्याग करके कन्दमूल और फलों से जीवनयापन करूँगा इत्यादि विचार करके ही तुम्हें करना है जिससे अपना वचन भी पूर्ण हो सके इस प्रकार याद दिलाने के बाद शुभ लक्षण लक्ष्मण जी कैसे वैसा कर्म कर सकते हैं ।

और भी- जटायु की ऊर्ध्वदैहिक क्रिया करते हुए भगवान् राम जटायु के लिए जब पिण्ड देना चाहते थे तब स्थूल रोहिनामक पशु को मारकर...........एवम् रोहि के मांसों को.....

यहाँ रोहि मांसानि चोत्कृत्य और स्थूलान् हत्वा महारोहीम्, पदों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रोहि नाम के किसी पशु को मार कर उसके मांस से ही पिण्डदानादि कार्य भगवान् राम ने किया । परन्तु यहाँ भी रोहि शब्द भ्रामक है परोक्ष प्रियो हि देव'' इसके अनुसार परोक्षवादार्थ ही शिलष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है यहाँ रोहि शब्द का दो अर्थ होता है वृक्ष और बीज उसके अनुसार रोहि वृक्ष का मांस अर्थात् उसके अन्तर का भाग छाल गुदा आदि ये भी भोज्य होते हैं मीठे एवं स्वाद युक्त होते हैं पिण्ड के स्थान पर रामजी ने उसका प्रयोग किया था अथवा खाद्य विशेष बीज विशेष भी होता है । प्राय: बालक उस बीज के अन्दर का लालवर्ण के भाग जो खाने में मधुर होता है खाते हैं वैसे ही स्थूल काय बीज को विदीर्ण करके उसके अन्दर का भाग निकाल करके उसका पिण्ड दान किया जैसे गुजरात में होता है बादाम वृक्ष उसके फल स्थूल होते हैं उसको फोड़ करके लाल रंग के दाने को खाते हैं

उसके अन्तर्गत बीज को भी फोड़ करके उसके मध्यभाग को निकाल करके गुदा को जो खाने में स्वादिष्ट होता है उसी तरह रोहि बीज का मध्य भाग को निकालकर पिण्डदानादि विधि को सम्पन्न किया।

किन्तु जिह्वा के लोलुप लोग मांस भक्षी परोक्षार्थ को छोड़कर भूतार्थ को ही ग्रहण करते हैं उसी प्रकार के अर्थ का विज्ञापन करके सामान्य जनता की मति भ्रमित करते हैं मनमानी अर्थ का प्रदर्शन करके अपने स्वार्थ का साधन करते हैं वहाँ क्या कहा जाय ?

अधिक क्या कहें- मांस विषयक निन्दा महाभारत में अनेक स्थानों पर है अनुशासन पर्व- जो दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर कोई क्षुद्र नहीं है वह क्रूर मनुष्य भेड़िया है। इसी प्रकार मद्यपान भी लोगों की आयु, धन, धर्म, बल, बुद्धि और तेज को हरता है।

यद्यपि मद्यपानादि दोष भगवान् बलराम और पाण्डवों के विषय में भी लोग वर्णन करते हैं किन्तु वे तो समर्थ थे कहा भी है तेजस्वी के लिए दोष नहीं है जैसे अग्नि सब भक्षण कर लेता है। अनुचित भी स्वामी के लिए उचित है और उचित भी नीच के लिए दोष हो सकता है जैसे राहु के लिए अमृत भी मृत्यु बन गया और विष भी शंकरजी के लिए अमृत हो गया।

इसलिए कहा है कि समर्थ पुरुषों की वाणी सत्य एवं अनुकरणीय होती है कहीं-कहीं उनका आचरण भी उपयोगी होता है। इससे यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि मद्यपानादि दुष्कर्मों का फल समर्थ महापुरुषों को भी भोगना पड़ता है जैसे भगवान् श्रीकृष्ण के वंशज यादव मद्यपान से नष्ट बुद्धि होकर आपस में लड़कर समाप्त हो गये सम्पूर्ण कुल का नाश हो गया। अत: लोक शिक्षण के लिए होती है भगवान् की हर लीला ऐसा समझकर व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार सारगर्भित व्याख्यान सुनकर वह तान्त्रिक भी मद्यमांसादि सेवन छोड़कर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी की शरण में आकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।